अध्याय - 3

आदिकालीन काव्य : भेद एवं प्रवृत्ति

द्वितीय अध्याय में हिन्दी साहित्य के विकास के क्रमिक परम्परा का निर्देश करते हुए उसमें समाविष्ट प्रशस्ति का द्वार खोला जा चुका है । सिद्ध - नाथ, अपभ्रंश - डिंगल, सन्धि और चारण आदि विभिन्न नामों से अभिहित आदि कालीन काव्य अपनी लगभग 900 वर्ष की काव्य सर्जना का असीमित इतिहास हमारे सामने लाता है । इस, कालगत कविगत भाषागत विषयगत वैराट्य एवं वैविध्य से मण्डित कविता गंगा में अभिव्यक्त प्रशस्ति के स्वरूप का समाकलन करने के पूर्व आवश्यकता इस बात की है कि इस काल के काव्य के स्वरूप और इसके भेदोपभेद का निर्धारण कर लिया जाय ।

हिन्दी के आदिकालीन काव्य का अनुशीलन करने वाले प्रायः सभी विद्वानों ने इस काल के काव्य को भाषा के आधार पर दो भागों में विभक्त किया है –

(अ) अपभ्रंश भाषा काव्य ।
(ब) डिंगल काव्य ।

विषय की दृष्टि से इन उभय प्रकार की भाषा में उपलब्ध काव्य के दो भेद किए गए हैं –

(अ) साधनात्मक काव्य ।
(ब) सामन्तीय काव्य ।

उपर भाषा और विषयगत विभाजन में समाविष्ट समस्त काव्य के मूल स्वरूप के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि आदिकाल का वह समूचा काव्य जो अपभ्रंश भाषा में लिखा गया है, साधनात्मक है । और डिंगल भाषा में उपलब्ध प्रायः सभी रचनाएं सामन्तीय अनुबोध का अनुधावन करती हैं । इस प्रकार इस काल के काव्य की मुख्य दो ही धारा है – अपभ्रंश भाषा का साधनात्मक काव्य और डिंगल भाषा का सामन्तीय काव्य । विचारणीय यह है कि अपभ्रंश भाषा में मात्र साधनात्मक रचनाएं ही नहीं हैं अपितु लौकरस वाली वे शृंगारी कृतियां भी पायी जाती हैं जिनमें

अब्दुल रहमान के संदेश रासक जैसे काव्यों का मुख्य स्थान है । इस प्रकार अपभ्रंश भाषा में भी लोकोत्तर साधना के साथ ही साथ लोकासक्ति की साधना का स्वर भी विद्यमान है । अपभ्रंश भाषा में विद्यमान इन उभय कोटियों के अन्तर्गत लिखी गयी रचनाओं का जो उल्लेख साहित्य के इतिहास में अब तक किया गया है, वह कम नहीं । किन्तु जो रचनाएँ सुलभ हैं वे कम हैं ।

अपभ्रंश भाषा में लिखे गए साधनात्मक काव्य के इस स्वरूप सृजन के पीछे भारतीय धर्म चेतना के क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले एक बहुत बड़े उथल-पुथल का हाथ है । अपभ्रंश भाषा का पचहत्तर प्रतिशत काव्य, धार्मिक काव्य है । ऐतिहासिक क्रम में इस नवोदित धर्म चेतना को हम तत्कालीन भारत के विशाल हिन्दू धर्म के अन्तर्विद्रोह का परिणाम ही मानेंगे । वस्तुतः वैदिक धर्म जब कर्मकाण्ड के भार से इतना बोझिल हो गया कि उसमें भेद भावना और अन्ध विश्वास की अभिवृद्धि से सामाजिक मानसिकता डिप्रेशन का अनुभव करने लगी, तब धर्माचरण के साथ मनुष्य के नये सम्बन्ध का अन्वेषण आरम्भ हुआ । इसी उपाय के रूप में हिन्दू धर्म को क्रमशः झकझोरने वाले महावीर और अमिताभ गौतम ने ही इसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया । विद्रोह का प्रमुख कारण एक और भी था — वैदिक धर्मावलम्बी सामाजिक व्यवस्था में ऊँच पुरोहित और यजमान के रूप में ब्राह्मण और क्षत्रियों का धार्मिक वर्चस्व अवर्णों के एक प्रकार के शोषण का कारण बना हुआ था । इसलिए इस विद्रोह को हम आर्थिक समता की लड़ाई के रूप में भी देख सकते हैं । किन्तु विरोध चाहे जिस प्रकार के रहे हों उनका परिणाम अपने मुखर रूप में धार्मिक तानेबाने में ही दिखाई पड़ा । यही कारण है कि इसे हम धर्मचेतना का ही परिवर्तन मानते हैं । जैन और बौद्ध धर्म के रूप में, वैदिक धर्म की ही कुक्षि से जो एक नयी संक्रान्ति ने आचार संहिता प्रदान की वही आदिकालीन हिन्दी की अपभ्रंश भाषा वाली कविता का मुख्य विषय बना । जैनियों और बौद्धों में भी साम्प्रदायिक विभाजन की परम्पराएँ चल पड़ी । श्वेताम्बर और दिगम्बर की नामधारी जैन धर्म वाली शाखायें गुजरात और उसके आसपास सामाजिक जीवन पर प्रसरित और पल्लवित होने लगीं । चिन्तन और मनन के साथ ही साथ आयातित हो रही नयी सामाजिक संचेतनाओं ने बौद्ध धर्म में भी साम्प्रदायिक वैविध्य का सूत्रपात किया । हीनयान, वज्रयान, सहजयान, महायान के रूप में धर्मों की अनेक यवनिकायें उठने गिरने लगीं । और पुरानी हिन्दी या अपभ्रंश भाषा नाना सम्प्रदाय - उपसम्प्रदायों में विभक्त धर्मदेव के सारे क्रिया-कलापों को काव्य के स्तर पर अभिव्यंजना देने लगी ।

(ब) आदिकालीन काव्य : स्वरूप एवं विभाजन

आदिकालीन अपभ्रंश भाषा में लिखे गए काव्य के अन्तर्गत हो साधना पध्दति और विषय के विचार से तीन धाराएं देखी जाती हैं -

१. जैन काव्य ।
२. बौध्द काव्य (सिध्द काव्य) ।
३. नाथ काव्य ।

जैन, सिद्ध और नाथ साहित्य की इस त्रिधारा में प्रवहमान साधना की वही शक्ति और प्रतिभा था जो वैदिक धर्म के विकृपित स्वरूप से कर्मकाण्ड की चहारदिवारियों को तोड़कर अग्रसर हुआ था । किन्तु इनमें भी साधन - साध्य की दृष्टि से निश्चित रूप से अन्तर था जिसका अनुभव करते हुए अनुशीलन की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए इन्हें पृथक्-पृथक विवेचित करना अनिवार्य है ।

(1) जैन साहित्य :- बताया जा चुका है कि जैन धर्म के जन्मने और प्रसरित होने की अनुकूल भूमि प्रायः गुजरात रहा है । इस प्रदेश के राज घरानों ने जैन धर्म को पल्लवित होने के प्रचुर अवसर प्रदान किए किन्तु है यह यतियों और श्रावकों की देन ही । यह स्वीकार किया जा चुका है कि अधिकांश जैन साहित्य अपने ध्येय में धार्मिक और अधिकांश में उपदेशात्मक है । कारण यह है कि इसमें उपलब्ध साहित्य का बहुलांश धार्मिक गुरुओं, धर्माचारी भक्तों और सती-साध्वी स्त्रियों के चरित्र से ही संकुल और प्रतिमान है । ढाल, व्यणी, गीत, वस्तु, चौपइ, सन्धी रास, स्तवन, फागु, सज्झाय, पद, चरित आदि एकाधिक रूपों में यह साहित्य अपने समय के जीवन के वैविध्य को उजागर करता है । इस साहित्य का अनुशीलन करने वाले कुछ विद्वानों ने स्वीकार किया है कि इसमें "धर्म सापेक्ष साहित्य के अतिरिक्त कई कवियों ने प्रेम, नीति, ऋतु आदि विषयों को लेकर धर्म निरपेक्ष रचनाएं की हैं । जैन कवि कुशल लाभ ने माधवानल काम कन्दला तथा ढोला मारू री चौपइ जैसी कृतियों का प्रणयन किया है[1] जिनमें धर्म चेतना से भिन्न लौकिक की मिठास और सुरभि एक साथ पायी जाती है । धर्मवर्धन ने अनेक लोकोपयोगी विषयों को अपनाया है ।[2] इसके अतिरिक्त जिन हर्ष ने श्रृंगार रसात्मक एवं प्रकृति वर्णन सम्बन्धी रचनाएं भी लिखी हैं ।[3] साहित्य

1- डा० हीरालाल माहेश्वरी : राजस्थानी भाषा और साहित्य : पृ० 259
2- सं० अगरचन्द नाहटा : धर्मवर्धन ग्रन्थावली (बीकानेर) ।
3- अगरचन्द नाहटा : जिन हर्ष ग्रन्थावली : (बीकानेर) ।

सर्जना के अतिरिक्त जैन साधुओं ने जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया है वह है प्राचीन साहित्य का संग्रह और उसका संरक्षण । जैन मन्दिरों, उपाध्यायों तथा जैन विद्वानों के पास आज भी हस्तलिखित पोथियों के विशाल भण्डार हैं जो शोधार्थियों के लिए चुनौती बने हुए हैं ।

उपरिलिखित तथ्यों के प्रकाश में यह सिद्ध किया जा चुका है कि जैन साहित्य में धर्म और भक्ति की भावना के अतिरिक्त जीवन की इतर दिशाएँ भी संवेदना के स्तर पर निर्दिष्ट हैं । तो भी इस धारा की कविता का प्रमुख स्वर धर्म और भक्ति प्रधान ही है । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रतिपाद्य विषय के विचार से जैनियों द्वारा प्रणीत इस भक्ति और धार्मिक काव्य की ओर विशिष्ट रूप से दृष्टिपात करना अभिप्रेत है । इस काव्य में प्रशस्तियों के शुभ साधना एवं धर्ममूलक कारण विद्यमान हैं ।

प्रथमतः जैन भक्ति काव्य में सद्गुरु की महिमा का सबल स्वरों में प्रतिपादन किया गया है । यहाँ सद्गुरु और ब्रह्म में अभेद है । जैन काव्य के प्रवाह परिदर्शन करने से ऐसा लगता है कि ये जैन कवि गुरु के प्रति अगाध आस्था जो रहे थे । क्योंकि पंचपरमेष्ठी के रूप में पंचगुरु की कल्पना की है । पंच परमेष्ठी में सम्प्रदाय के अतिरिक्त अर्हन्त सिद्धों को भी समाविष्ट किया है । आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि का सम्यक् स्मरण भी इसके अन्तर्गत किया गया है । माना यह गया है कि यदि साधु तत्व का सम्यक् दर्शी हो चुका है तो वह पूर्ण रूप से गुरु पद का अधिकारी है । किन्तु गुरु उसे ही माना जायेगा जो सम्यक् पथ का निर्देश कर सकने में सक्षम हो । सम्यक् पथ से जैन मतावलम्बियों का तात्पर्य मोक्ष मार्ग से है ।[1]

इस काव्य की दूसरी विशेषता के रूप में प्रभु से भक्ति की ओर उन्मुख होने की याचना का स्वर है इसी को 'ब्रह्म प्रेरणा' भी कहते हैं । इस प्रणति और याचना के उद्गार में पुत्र, धन, मोक्ष आदि की याचनाओं के स्वर अनुगुंजित हैं । आस्था यह है कि उनका माँगना कभी व्यर्थ नहीं जाता । जैनियों का प्रभु अपनी भक्त वत्सलता के कारण भक्तों की सभी लौकिक - अलौकिक कामनाएँ पूरी करता है । मूल बात यह कि जिनेन्द्र चाहे कुछ न देते हों किन्तु अपने दर्शन और पूजा उपासना से भक्त में पुनीत आचरण का आविर्भाव तो कर ही देते हैं ।

1- डा० प्रेमसागर जैन : हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि : पृष्ठ-6

जैन साहित्य अपनी वैचारिक प्राणवत्ता में तीर्थंकरों के चिन्तन से तो स्पन्दित है ही उनके गर्भ में आने, जन्म लेने, तप के लिए जाने, कैवल्य ज्ञान प्राप्त करने और मोक्ष उपलब्ध करने आदि के पंचक की व्यंजनाओं से संकुल है । इन्हें जैन धर्म की भाषा में 'पंच कल्याण' कहा गया है । हिन्दी का जैनी साहित्य इनकी गहन अनुभूतियों से पूर्ण है । इन पंच कल्याण स्तुतियों का प्रबन्ध काव्य में पर्याप्त विधान पाया जाता है । इन प्रबन्ध काव्यों में प्रसंगानुकूल मुक्तक स्तुतियां भी पायी जाती हैं । तत् तत् कल्याण को लेकर इनमें तीर्थंकरों के प्रति अपनी भक्ति भावना का समर्पण ही मुख्य लक्ष्य होता है । हिन्दी के जैन कवियों ने पंच कल्याण स्तुतियों का स्पष्ट रूप से निर्माण किया है । इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि संस्कृत और प्राकृत साहित्य में इनका अभाव रहा है । अतः इसे हम हिन्दी जैन काव्य की मौलिक विशेषता के रूप में स्वीकार करते हैं । इस शोध प्रबन्ध के विवेच्य विषय से इसका बड़ा गहरा लगाव हो सकने की संभावना है । पाण्डेय रूप चन्द की 'पंच मंगल स्तुति' जैन मन्दिरों में पूजा के क्षण के दैनिक भजन के रूप में पढ़ी जाती है । जगराम जैन एक कवि हो चुके हैं । इन जगराम जैन कवि ने 'लघु पंच मंगल' नाम से एक स्तुति लिखी थी, जिसकी एक प्रति आज भी बड़ौत के जैन मन्दिर में सुरक्षित है । डा० प्रेमसागर जैन[1] ने उक्त सूचनाएं देते हुए जगराम जी की कुछ पंक्तियां भी उद्धृत की हैं --

नाटक सनमुख दरपन सोया, इंद्र ठाढ़े चमर ढुरावे जी ।
वसन -आभूषन इंद्र दे, इंद्र मधुरी बैन बजावे जी ॥
फूल इंद्र परेलो का, इंद्र उत्तर धुनि हरषावे जी ।
निशिदिन करते आनन्द श्री इम नव भाषा जितावे जी ॥
महिमा त्रिभुवन नाथ की, कवि कहां लो बरणावे जी ।
भक्ति परे ना दास भयो, जगराम जस गावे जी ॥'

जैन काव्य धार्मिक काव्य है । यह धार्मिकता भक्ति रस की घूंटी पीकर पूर्ण अहिंसक आस्तिकता से वेष्ठित हो उठी । वे भक्त उसे मानते हैं जो भगवान का दास होता है । यह दासता भक्त के हृदय में जन्मतः सात्विक होती है । अपनी सात्विक शीलता के कारण ही इसकी भौतिकता शून्यप्राय होती है । भगवान का दास

---

1. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि : पृ० 9 - 10

जैन भक्त कवि अपने भव-भव में जिनेन्द्र की सेवा करना चाहता है । जैनियों ने न सुखी संसार माँगा और न दुःख से डर कर मोक्ष ही माँगा अगर कुछ माँगा तो जिनेन्द्र की सेवा माँगी । स्पष्ट है कि इस सेवा-भावना की रसात्मक अनुभूति वाली भक्ति कितनी महिमावान हो सकती है । सेव्य के रूप में किसी को स्वीकार करके जीवन जीने वाले प्राणी के हृदय में आलम्बन के प्रति प्रशस्ति और यशगान के भाव के अतिरिक्त जग ही क्या सकता है ? जैन काव्य में शायद इसीलिए दास्य-भाव की प्रधानता पायी जाती है । जहाँ दास्य-भाव होगा वहाँ आराध्य की महत्ता निर्णीत रूप से प्रतिष्ठित हो होगी । इस प्रतिष्ठा में विशिष्टता यह होती है कि आराध्य के सारे क्रिया-कलाप सभी दृष्टि से निर्दोष ही दिखाई पड़ते हैं । इसलिए कि उसकी महत्ता के प्रतिपादन का यह एक संवेदनशील प्रणाली हो सकती है ऐसे पूज्य की महिमा-गान के और भी ढंग हैं । अन्य देवताओं से अपने देवता को श्रेष्ठ बताना महत्त्व की स्वीकृति का ही एक ढंग है । जैन कवि जिनेन्द्र को अन्य देवों से सम्भवतः इसी से बड़ा मानते हैं । भगवान की कीर्ति का वर्णन करना जैन मन्दिरों में वैष्णव मन्दिरों के ही समान बहुत लोकप्रिय है । 'ताला राग' और 'लिगुट राग' जैन मन्दिरों में कीर्तन के रूप में प्रयुक्त होता है । स्पष्ट है कि नाम जाप की धार्मिक क्रिया कीर्तन के अन्तर्गत ही आती है । जिनेन्द्र के नाम जाप की सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति काव्य के स्तर पर जैनियों में बड़ी बलवती है । नाम जाप से ही जुड़ी हुई एक दूसरी प्रवृत्ति जो प्रशस्ति के प्रांगण को विस्तार प्रदान करती है, और भी है जिसे स्मरण कहते हैं । किसी भी सम्प्रदाय का भक्त अपने भगवान का स्मरण समाराधना-भाव से ही करता है । इसी के बूते पर वियोगी भक्त के तो जीवन के दिन ही कटते हैं । अपनी बात का समर्थन करने के लिए हम यहाँ पर कल्याण मन्दिर के उस स्तोत्र का स्मरण करते हैं जिसमें कहा गया है कि जिनेन्द्र के ध्यान से पल भर में यह जीव परमात्म भाव को प्राप्त हो जाता है —

ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन,
देहं विहाय परमात्म दशां व्रजन्ति ।[1]

जैन काव्य में पाई जाने वाली भक्ति परक रचनाओं के बीच विकीर्ण विशेषताओं का मूल स्वर ईश्वर विषयक प्रशस्ति के स्वर से भिन्न और कुछ भी नहीं

1- कल्याण मन्दिर स्तोत्र : श्लोक सं० 15

है । यह कुछ ऐसी परिस्थिति की संरचना करता है जिससे जैन काव्य में सचमुच की देवी प्रशस्ति की बहुविध व्याख्या का द्वार खुल जाता है ।

(2) सिद्ध साहित्य :- आदिकालीन सिद्ध साहित्य बौद्ध धर्म की उस साम्प्रदायिक परम्परा का साधनात्मक स्वर है जो भारतीय हठयोग की साधना भूमि पर विकसित और पल्लवित हुआ है । सिद्धों की संख्या चौरासी बताई जाती है । सरहपा, शौरपा, कण्हपा आदि इस धारा के मुख्य साहित्यकार अथवा कवि थे । डा० शर्मा ने स्वीकार किया है कि 'चारण साहित्य तत्कालीन राजनीतिक जीवन की प्रतिछाया है परन्तु यह सिद्ध साहित्य सदियों से आने वाली धार्मिक और सांस्कृतिक विचार धारा का एक स्पष्ट उल्लेख है । इसने हमारी धार्मिक विचारों की श्रृंखला को और भी मजबूत किया है'।[1] सचमुच सिद्ध साहित्य अपने साधनात्मक रूप में भी जन साहित्य अथवा साहित्य के जनान्दोलन के रूप में उभर कर सामने आता है । यह स्वीकार किया जा चुका है कि जो जनता नरेशों की स्वेच्छाचारिता, पराजय या पतन से त्रस्त होकर निराशावाद के गर्त में गिरी हुई थी, उसके लिए इन सिद्धों की वाणी ने संजीवनी का कार्य किया । निराशावाद के भीतर से आशावाद का संदेश देना, संसार की क्षणिकता में उसके वैचित्र्य का इन्द्रधनुषी चित्र खींचना इन सिद्धों की कविता का गुण था और उसका आदर्श था जीवन की भयानक वास्तविकता की अग्नि से निकाल कर मनुष्य को महासुख के शीतल सरोवर में अवगाहन कराना । कतिपय विद्वानों ने महासुख मूलक धार्मिक दृष्टिकोण की इसी अतिशयता को देखते हुए सिद्ध साहित्य को साम्प्रदायिक साहित्य मानकर उसे शुद्ध काव्य की कोटि में स्वीकारने से प्रायः संकोच किया है । माना यह गया है कि इन रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक परम्पराओं, अनुभूतियों और अवस्थितियों से कोई प्रत्यक्ष लगाव नहीं है । इस प्रकार सिद्धों का साहित्य धार्मिक उपदेश के अतिरिक्त और कुछ भी देने में असमर्थ है । डा० रामकुमार वर्मा ने सिद्ध साहित्य की महत्ता का विवेचन करते हुए लिखा है कि सिद्ध साहित्य का महत्व इस बात में बहुत अधिक है कि उससे हमारे साहित्य के आदि रूप की सामग्री प्रामाणिक ढंग से प्राप्त होती है । चारणकालीन साहित्य तो केवल मात्र तत्कालीन राजनीतिक जीवन की प्रतिच्छाया है । यह सिद्ध साहित्य शताब्दियों से आने वाली धार्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा का स्पष्ट उल्लेख है । तात्पर्य यह कि

1- हिन्दी साहित्य :- युग और प्रवृत्तियाँ : पृष्ठ - 27

साहित्यिक महत्ता और गरिमा की दृष्टि से सिद्ध साहित्य कोई विशेष महत्व नहीं रखता फिर भी आदिकालीन हिन्दी की काव्य धारा के लिए सिद्धों की यह देन अपना विशिष्ट स्थान रखती है । वैदिक, तान्त्रिक, पौराणिक आदि अनेक मत-मतान्तर और सम्प्रदायों के पूर्वापर तत्व इस सिद्ध साहित्य में समन्वित होकर भारतीय साहित्य और धर्म साधना में एक युगान्तकारी परिवर्तन उपस्थित करते हैं । दार्शनिक दृष्टि से सिद्धों के साधनात्मक साहित्य की मीमांसा करते हुए कुछ लोग यह मानते हैं कि इन सिद्धों ने शंकर की मायावाद वाली विचारधारा का पन्थ प्रशस्त किया और उसके साथ ही साथ वे बौद्धों के शून्यवाद से अव्यावहारिक दृष्टि से क्षत नहीं हुए ।

राहुल जी ने तो वीरगाथा काल की समस्त पूर्ववर्ती रचनाओं को सिद्ध साहित्य और इस काल को सिद्धकाल के रूप में स्वीकृति प्रदान की है । डा०हजारी प्रसाद द्विवेदी यह मानते हैं कि इस काल में सुलभ साहित्य सिद्धों का धार्मिक साहित्य है यद्यपि यह साहित्य विशुद्ध काव्य की कोटि में नहीं आ सकता ।

सिद्धों की साधना का संचरण सं० 1817 से औपचारिक रूप में प्रारम्भ हो गया था । चौरासी सिद्धों में रचना धर्मिता के विचार से आरम्भी सिद्ध सरहपा का यही आविर्भाव काल है । अभी हमने जिन जैन मुनियों की साहित्य साधना का उल्लेख किया है, सिद्ध-साधना उनकी परवर्ती साधना है, जो बौद्ध-धर्म की सैद्धान्तिक विकृति लेकर सामने आई । परिवर्तित परिस्थिति में सिद्ध - साधना, बौद्ध-साधना का ही रूपान्तरण है । शंकराचार्य के शैव धर्म का प्रभाव ग्रहण करते हुए लोकप्रियता के उद्देश्य से बौद्ध सम्प्रदाय में तन्त्र-मन्त्र और अभिचार का आगमन प्रारम्भ हो गया । चमत्कार तत्व की इस उपस्थिति ने महायान की सरल साधना को मन्त्रयान में ढाल दिया । 400 ई० से 700 ई० के बीच यह प्रवृत्ति विश्व व्यापी हो उठी । बौद्ध धर्म के भिक्षु वृत्ति की प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप वामाचार की उपासनायें उभर कर सामने आईं ।

जिन चौरासी सिद्धों ने इस सम्प्रदाय की साधना और इसके साहित्य का सृजन सिंचन किया है, उनमें सभी वर्ग का समाजवादी स्वरूप दिखाई पड़ता है । अधिक सत्य तो यह है कि उनमें सबसे अधिक शूद्र उसके बाद ब्राह्मण फिर राजकुमार क्षत्रिय राजा, चर्मकार, वणिक, मछुआ, तसवा, कुम्हार, लोहार, धोबी, डोम, लकड़हारा, चिड़ीमार, कहार, बनिया, दर्जी आदि सभी थे । स्पष्ट है कि ये साधक

सिद्ध व्यवसाय, जाति और लिंग की सीमाओं का अतिक्रमण करके अपने वैविध्य और अपनी समग्रता में समाज का पूरा प्रतिनिधित्व कर रहे थे । यह बड़े सौभाग्य की बात है कि हिन्दी काव्यधारा के आदिकालीन प्रवाह में लगभग 300 वर्ष तक इस सम्प्रदाय की उदात्त प्रवृत्तियों का व्यापार चलता रहा । चौरासी सिद्धों में 'चौदह ऐसे हैं जिन्होंने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन काव्य रचना के द्वारा किया है ।' इसकी विवेचना चतुर्थ अध्याय में की जायेगी । यहाँ उनका नामोल्लेख कर देना ही पर्याप्त होगा । सरहपा, शबरपा, भुसुकपा, लुइपा, विरूपा, डोम्बिपा, दारिकपा, गुंडरीपा, कुकुरिपा, कमरिपा, कण्हपा, गोरक्षपा, तिलोपा, शान्तिपा आदि प्रमुख साहित्यकार सिद्ध हैं । डा० काशी प्रसाद जायसवाल ने सिद्ध सरहपा को हिन्दी का प्रथम साहित्यकार स्वीकारते हुए बताया है कि सरहपा के अतिरिक्त शबरपा, भुसुकपा, लुइपा, विरूपा, डोम्बिपा, दारिकपा, गुंडरीपा, कुकुरिपा, कमरिपा, कण्हपा, गोरक्षपा, तिलोपा, शान्तिपा इत्यादि सिद्धों की रचनाएँ सुलभ हैं ।[1]

सिद्ध साहित्य की अपनी कुछ निजी प्रवृत्तियाँ भी थीं । आन्तरिक साधना को प्रधानता देते हुए इन सिद्धों ने बाहरी पाण्डित्य और कर्मकाण्ड का प्रदर्शन करने वालों को खूब फटकारा है । यही नहीं दक्षिण मार्ग को छोड़ कर इन सिद्धों ने वाम मार्ग को भी खूब प्रश्रय दिया । शायद इसी वामाचार से प्रभावित इन सिद्धों ने वासना प्रेरित अन्तर्मुखी साधना पर भी जोर दिया है । लोक दृष्टि से विरोधी आचरण करने वाले इन सिद्धों ने मद्यपान और अन्तर्मुख साधना को खूब प्रोत्साहित दिया था । सिद्धों की योग तन्त्र प्रधान साधना के मध्य मद्य तथा स्त्रियों के, विशेषतः डोमिन धोबिन और रजकी आदि के अबाध सेवन की साधना का प्रतिपादन किया गया है । अपनी आतिशयता में बहुत बढ़ जाने के उपरान्त इसमें भी अव्यवस्था के रूप में पाँच ध्यानी बुद्धों और उनकी शक्तियों के अतिरिक्त अनेक बोधिसत्वों की कल्पना की गयी । रहस्य तथा गुह्य साधना की प्रवृत्ति बढ़ती गयी । इस प्रकार गुह्य समाज या श्री समाज का भी आविर्भाव हुआ । सारांश यह कि वज्रयान ने धर्म के नाम पर दुराचरण फैला कर बौद्ध धर्म को दफना दिया । रहस्य और योग मूलक प्रवृत्ति से उद्भूत इस साधना में दैवी कोटि की प्रशस्ति के भाव ही सम्भव थे । सिद्धों के काव्य में प्रतिलक्षित परम्पराओं और प्रवृत्तियों के प्रकाश में अलौकिक प्रशस्ति के अतिरिक्त लोक यशगान की

1- डा० जयकिशन प्रसाद : हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ : पृष्ठ - 74

७६

सम्भावनाएँ कम थीं । इसलिए हिन्दी की आदिकालीन काव्य धारा जो इन सिद्धों की साधना से प्रभावित है, विवेच्य विषय की दृष्टि से तो बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं है किन्तु जहाँ तक उसके ऐतिहासिक महत्व का प्रश्न है वह किसी प्रकार कम भी नहीं है । सिद्धों की साधना महासुख की साधना थी । इसलिए यश, कीर्ति आदि के वर्णन की अपेक्षा यहाँ की भी नहीं जा सकती । क्योंकि बहिर्मुख जीवन के चाकचिक्य को व्यंजित करने वाली ये बातें अन्तर्मुखी साधना करने वाले सिद्धों के साहित्य के साथ मेल ही नहीं खाती थीं ।

(3) नाथ साहित्य :- नाथ सम्प्रदाय का आविर्भाव भारतीय धर्म साधना के इतिहास में मूलतः महर्षि पतंजलि के हठयोग का एक साधना सम्मत और काव्य सम्मत नवीन संस्करण ही माना जायेगा । यद्यपि भारतीय धर्म साधना के विकास क्रम का अनुशीलन करने से नाथ पंथ प्रभाव की दृष्टि से भारतीय समाज को अनेक दृष्टियों से प्रभावित करता है तो भी मूलरूप से यह साधना मूलक मतवाद के रूप में ही प्रोद्भूत है । कुछ लोग ऐसा भी सोचते हैं कि गोरखनाथ ने सिद्ध सम्प्रदाय की प्रतिक्रिया में हठयोग की पूंजी लेकर नाथ सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था और नाथ सम्प्रदाय का मूल भी सिद्धों की वज्रयानी साधना से ही प्रस्फुटित हुआ है । दोनों के बीच सबसे बड़ा अन्तर यह है कि वज्रयान की परम्पराओं से लगाव रखते हुए भी गोरखनाथ ने अपने सम्प्रदाय को वामाचार से बचाए रखा है ।[1] ध्यातव्य है कि इस सम्प्रदाय के आदि देवता स्वयं शिव हैं । नाथ सम्प्रदाय के सन्तों को योगी कहा जाता है और शिव योगीश्वर माने गये हैं । गोरख ने पतंजलि के आधार पर ईश्वर प्राप्ति को ही शिव-भक्ति की उपासना के माध्यम से परम लक्ष्य बताया है । यही कारण है कि हठयोग पर आधारित नाथ सम्प्रदाय के काव्य में कहीं-कहीं शृंगारी भावनाओं का भी पुट पाया जाता है । डा० हजारीप्रसाद जी इनकी शैली में सहजयानी सिद्धों की शैली का अन्तर्भाव मानते हैं ।

नाथ सम्प्रदाय के आविर्भाव के सम्बन्ध में 10वीं से 13वीं शती के बीच की अवधि को स्वीकृत किया गया है । आचार्य शुक्ल का विचार है कि गोरखनाथ चाहे विक्रम की 10वीं शताब्दी में हुए हों चाहे 13वीं में । आचार्य हजारीप्रसाद जी ने

1- हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ : पृष्ठ - 78

शुक्ल जी के मत के अनिश्चय को निश्चय की दिशा देते हुए गोरखनाथ को 10वीं शताब्दी के आस-पास आविर्भूत माना है । उनका विचार है कि 10वीं शताब्दी के प्रसिद्ध काश्मीरी आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने तन्त्र लोक में मच्छंद विभु या मत्स्येन्द्र नाथ की वन्दना की है । इससे सिद्ध होता है कि मत्स्येन्द्र नाथ 10वीं शती के पूर्व अवतरित हो चुके थे । गोरखनाथ मत्स्येन्द्र नाथ के शिष्य थे, अतएव उनका समय भी इसी के आस-पास मानना समीचीन होगा । हिन्दी प्रदेश में नाथ पन्थ का आविर्भाव काल विक्रम की 10वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अथवा 11वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है ।[1] जो भी हो 'नाथ पन्थ के आविर्भाव की परिस्थितियों में उन सभी भारतीय चिन्ताओं का योग है जिनका दार्शनिक और व्यावहारिक मन्थन शताब्दियों से होता चला आया है ।'[2] नाथ योगी सम्प्रदाय की चर्चा करते हुए श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि योगियों की परम्परा बहुत प्राचीनकाल से चली आती है और योग साधना का अस्तित्व किसी न किसी रूप में लगभग वैदिक युग से मान लिया जा सकता है । उस काल के प्राप्य लोगों के विषय में कहा गया है कि उनमें से कई एक रुद्र की उपासना करते थे तथा प्राणायाम को भी बहुत महत्व देते थे । उनकी ध्यान की साधना वर्तमान योगाभ्यास से बहुत कुछ मिलती जुलती है ।[3] इस प्रकार की साधना के प्रवर्तक गोरखनाथ के जीवन-जन्म की समस्या को सुलझा लेने से नाथ सम्प्रदाय की समूची परम्परा, सम्पूर्ण परिवेश और सारा साहित्य समझने में बड़ी सुविधा हो जायेगी । यही सोच कर अभी तक हमने नाथ पंथ और उसके प्रवर्तक की चर्चा की है । इससे उनका काल क्रम आठवीं से तेरहवीं शती, दसवीं शती के आस-पास और कुछ ने 1270 में उनकी वर्तमानता स्वीकारी है ।[4] गोरखनाथ के अतिरिक्त अन्य साहित्य सर्जना करने वाले अन्य नाथों में गाहिणीनाथ, चर्पटनाथ, चौरंगी नाथ, ज्वालेन्द्रनाथ, भर्तृनाथ और गोपीचन्द की रचनाओं को सम्मान स्वीकारा गया है और इनका रचना काल तेरहवीं से चौदहवीं शताब्दी के बीच माना गया है ।[5] यह

1- हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास : पृ० - 406

2- डा० कोमल सिंह सोलंकी : नाथ पंथ और निर्गुण संत-काव्य : पृ० 52,53

3- पं० परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत परम्परा (भूमिका) : पृ० 55

4- डा० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : संस्करण - 1 : पृष्ठ - 105

5- डा० गणपतिचन्द्र गुप्त : आदिकाल की प्रामाणिक रचनाएं : पृष्ठ 7 - 8

भी उल्लेखनीय है कि नाथ सन्तों का साहित्य केवल हिन्दी में ही नहीं संस्कृत में भी है । नाथों का संस्कृत साहित्य बौद्ध सिद्धों के संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य से भिन्न है ।[1] इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए इस बात की सम्भावना की जा सकती है कि नाथों के साहित्य में उपलब्ध प्रशस्ति व्यंजना का स्वरूप संस्कृत के स्तोत्र साहित्य से प्रभावित अवश्य दिखायी पड़ेगा ।

इस सम्भावना की पुष्टि इस बात से भी की जा सकेगी कि हिन्दू जाति की धार्मिक मानसिकता के बीच जिन त्रिदेवों की परिकल्पना की गयी है उनमें सबसे महनीय और उसी के समानान्तर सबसे उग्र तथा मूलतः सबसे अधिक आनन्ददायक देवता शिव ही नाथ सम्प्रदाय के आदि नाथ हैं । डा० द्विवेदी ने इस पर जो टिप्पणी दी है उसमें नाथ सम्प्रदाय के कुछ प्रशंसनीय और श्रद्धेय पुरुषों का उल्लेख तो है ही साथ ही साथ उनके विविध आख्यान स्वरूप, मत-मतान्तर, सम्प्रदाय-उपसम्प्रदाय के वैविध्यपूर्ण ढंग दोनों की दिशा उद्घाटित हो जाती है । हठयोग प्रदीपिका की टीका का सन्दर्भ उठाते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि ब्रह्मानन्द ने लिखा है कि सब नाथों में प्रथम जो आदिनाथ हैं स्वयं शिव ही हैं । इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ब्रह्मानन्द इस सम्प्रदाय को नाथ सम्प्रदाय के नाम से ही जानते थे । इस सम्प्रदाय में अधिक प्रचलित शब्द सिद्ध मत, सिद्ध मार्ग, योग मार्ग, योग सम्प्रदाय, अवधूत मत, अवधूत सम्प्रदाय इत्यादि भी हैं । इनके मत से नाथ ही सिद्ध हैं । इनके मत का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' है जिसे काशी के बलभद्र पण्डित ने अठारहवीं शताब्दी में संक्षिप्त करके लिखा था ।[2] इस नाथ सम्प्रदाय के नाम विकास की चर्चा यहीं नहीं रुक जाती । गोरख के गुरु मत्स्येन्द्र नाथ के 'कौल ज्ञान निर्णय' नामक ग्रन्थ के सोलहवें पटल से अनुमान होता है कि वे जिस सम्प्रदाय के अनुयायी थे उसका नाम सिद्ध कौल सम्प्रदाय था । डा० प्रबोधचन्द्र बागची के अनुसार बाद में उन्होंने जिस सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया उसका नाम 'योगिनी कौल मार्ग' था । यही सिद्ध कौल मत ही आगे चल कर नाथ परम्परा के रूप में विकसित हुआ ।

भारतीय धर्म साधना में शैव मत दार्शनिक और लौकिक दोनों रूप में

1- डा० नागेन्द्रनाथ गुप्त : नाथ और सन्त साहित्य : पृ० - 27
2- नाथ सम्प्रदाय : पृष्ठ - 1

प्रचलित रहा । विक्रम की दसवीं शती के पूर्व शैव मत को राज्याश्रय प्राप्त था । साधारण शैव मतावलम्बी किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध नहीं थे । उनकी आचरण संहिता पौराणिक सिद्धान्तों के अनुकूल रही । अतः नाथ पन्थ को शैव सम्प्रदाय का ही एक विकास मान लेने से शिव का योग और योगी सम्प्रदाय से प्राचीनतम सम्बन्ध स्वयं सिद्ध हो जाता है ।[1] किन्तु शैव मत के लोक प्रचलित रूप से ही नाथ पन्थ अधिक प्रभावित था । यही नहीं बौद्ध एवं शाक्त मतों का भी नाथ पन्थ में अन्तर्भाव उपलब्ध होता है ।[2] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का विचार है कि दक्षिण में जब वैष्णव मूलक भक्ति का अभ्युदय हो रहा था तभी उत्तर भारत में शक्तिशाली योगमत का प्रादुर्भाव हुआ । आगे चलकर कबीर जैसे सन्तों ने योग और भक्ति मार्ग का समन्वय करते हुए एक नवीन साधना मार्ग का प्रादुर्भाव किया ।[3]

नाथ पन्थ के आविर्भाव के प्रश्न को लेकर विद्वानों में दो प्रकार की धारणाएं पाई जाती हैं । कुछ विद्वान नाथ पन्थ को बौद्ध वज्रयानी परम्परा का ही एक रूप मानते हैं । इनके अनुसार गोरखनाथ वज्रयानी साधक थे । महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री गोरखनाथ को बौद्ध वज्रयानी नाम रमण वज्र मानते हैं ।[4] पश्चिमी विद्वान ग्रियर्सन का अनुमान है कि गोरखनाथ पूर्वतः वज्रयानी साधक थे किन्तु बाद में शैव हो गये थे ।[5] उनके अनुसार नाथ रूप में भगवान की भावना ही नाथ पन्थ की विशेषता है, जिसका प्रारम्भ बौद्ध तन्त्रों में ही हो गया था ।[6] किन्तु काल क्रम से वज्रयानी प्रभाव से पूर्णतया उन्मुक्ति लाभ करते हुए नाथ पन्थ का स्वतन्त्र विकास हुआ । जहाँ तक गोरखनाथ की रचनाओं का प्रश्न है, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बाद में शैव हो गये । इस सम्बन्ध में दूसरे मत का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं जिसमें स्वीकार किया गया है कि नाथ एवं शैव सम्प्रदाय को एक माना है । इसका कारण यह है कि नाथ पंथी अपनी परम्परा भगवान शिव से मानते हैं और शिव ही उनके मतानुसार आदिनाथ हैं । असाम्प्रदायिक भाव से शैव मत के लोक

- -

1- डा० चतुर्वेदी : शैव मत : पृष्ठ - 100
2- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ सम्प्रदाय : पृष्ठ - 8
3- मध्यकालीन धर्म साधना : पृष्ठ - 40
4- डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल : योग प्रवाह : पृष्ठ - 218
5- नाथ सम्प्रदाय : पृष्ठ - 97
6- योग प्रवाह , पृष्ठ - 216

सम्मत रूप के आधार पर नाथ पंथ में शिव का उपास्य रूप ग्रहण किया गया है। इसलिए विवेच्य विषय के दैवी पक्ष अथवा अलौकिक प्रशस्ति के स्वर को ही इस काव्य में सम्भावना है। जो भी हो गुरु गोरखनाथ ने ब्राह्मण धर्म विरोधी साधना मार्ग को संचारित करते हुए नाथ पंथ का संगठन किया। आगे चलकर हिन्दी का परवर्ती भक्ति काव्य तो इससे प्रभावित हो हुआ है, नाथ पंथी सन्तों द्वारा रचित समकालीन रचनाएं भी विशेष महत्त्व की हैं। इस पंथ की अधिकांश कृतियाँ संस्कृत भाषा में भी पायी जाती हैं जिनकी संख्या 28 बताई जाती है।[1]

नाथ पंथ की साधना भारतीय योग दर्शन की धर्म साधना के विशाल प्रवाह की अन्तिम परिणति है। महर्षि पतन्जलि के योग दर्शन का न केवल हिन्दू धर्म में, अपितु हिन्दुस्तान में जन्मने वाले जैन, बौद्ध धर्मों में भी समान स्वीकृति मिलती रही है। बुद्ध धर्म के पालि त्रिपिटकों तथा संस्कृत के ग्रन्थों में योग की प्रक्रिया का विशिष्ट वर्णन है। महावीर स्वयं योगी थे, और जैन धर्म में योग का विवेचन पर्याप्त मात्रा में किया गया है। तन्त्रों में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान प्रसिद्ध ही है। गोरखनाथ के नाथ सम्प्रदाय में योग का इतना आदर है कि उस सम्प्रदाय को योगी सम्प्रदाय के नाम से पुकारते हैं। नाथ पंथी सिद्ध हठयोग के परमाचार्य थे। मन्त्र योग, लय योग आदि योग प्रसिद्ध ही हैं।[2] नाथ सम्प्रदाय में योग साधना की प्रधानता के साथ-साथ गुरु की महिमा पर भी गम्भीरता से प्रकाश डाला गया है। इस गुरु महिमा गान की अनिवार्य और व्यापक परम्परा में शोध के प्रमुख विषय - प्रशस्ति को पर्याप्त भावपोषण मिला है। सिद्धान्ततः एक मात्र अवधूत ही गुरु हो सकता है। अवधूत जिसके प्रत्येक वाक्य में वेद निवास करते हैं, पद-पद में तीर्थ बसते हैं, प्रत्येक दृष्टि में कैवल्य विराजमान है, जिसके एक हाथ में त्याग और दूसरे में भोग है और फिर भी जो त्याग और भोग दोनों से अलिप्त है।[3] इस प्रकार नाथ साहित्य की दार्शनिकता योग को पूंजी लेकर गुरु महिमा के आलम्बन विधान पर आदिकालीन साधना को सम्पादित करती रही है। ऐसी स्थिति में लौकिक और अलौकिक दोनों पक्षों में नाथ

1- डा० कोमल सिंह सोलंकी : नाथ पंथ और निर्गुण सन्त काव्य : पृ०-113 (पाद टिप्पणी)

2- डा० बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन : पृ० - 366

पंथियों ने जिस मार्ग को प्रश्रय दिया है, उसमें दैवी प्रशक्ति की बलवती भावना के बीज विद्यमान हैं ।

आदिकालीन हिन्दी का समस्त काव्य प्रवाह भाषिक संरचना की दृष्टि से अपभ्रंश (पुरानी हिन्दी) और डिंगल भाषा में विभक्त है । यह भी देखा जा चुका है कि इस काल खण्ड की काव्य सर्जना विवेच्य वस्तु की दृष्टि से भी दो शिविरों में बंटी हुई है, साधना और सामन्तीयता से सम्बन्धित विषय ही क्रमशः अपभ्रंश और डिंगल में अभिव्यंजित है । साधनात्मक काव्य की जिन तीन कोटियों को सामान्य रूप में स्वीकृत किया गया है, उनके स्वरूप और उनकी विशेषता का संक्षिप्त परिचय देकर यह तथ्य सामने लाया जा चुका है कि अपभ्रंश भाषा में रचित साधनात्मक काव्य को त्रिवेणी में शैव सम्पदा से पराङ्मुख होकर पंथियों ने जिन, बुद्ध और नाथ की संज्ञा से एक ही परम सत्ता के गीत गाए हैं । जैनाचार्यों ने जिन कह कर, महावीर कहकर, बौद्ध सिद्धों ने बुद्ध मानकर उनके वज्रयानी, सहजयानी, कालचक्रयानी उपक्रमों को आयातित किया है और लोग कहते हैं कि इन्हीं बौद्ध सिद्धों की प्रतिक्रिया में नाथों ने योगाश्रित साधना के द्वारा आदिनाथ शंकर में परमसत्ता का आरोप करते हुए उसी परात्पर की अनुभूति का अनुधावन किया है । स्पष्ट है कि त्रिवर्गों में विभक्त इस समस्त साधनामूलक काव्य के बीच पाई जाने वाली प्रशक्ति की भावना का मूल स्वर दैवी अथवा अलौकिक ही हो सकता है । चिन्त्य यह है कि इसी काव्यधारा के सातत्य में दसवीं शती के आगे पीछे आविर्भूत काव्य स्वरूप नूतन भाषा डिंगल में राजस्थान के चारणों, भाटों, सेवकों, भटराजों, ब्राह्मणों के द्वारा लिखी गयी वीर रसानुप्राणित गाथाएं तथा दरबारों में गाए गए पंवारे भी आदिकाल की महार्घ काव्य सम्पदा के रूप में स्वीकृत हैं । कतिपय सामान्य पाठक हिन्दी के प्रारम्भिक काव्य वैभव के रूप में इन्हीं वीरगाथाओं को ही मान्यता देते हैं, अतः इस सामन्तीय काव्य के स्वरूप पर भी संक्षेपतः विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है ।

(4) **सामन्तीय काव्य :-** नवीनतम अनुसन्धानों के प्रकाश में यह स्पष्ट हो चुका है कि हिन्दी का आदिकालीन काव्य अधिकांशतः वीरतामूलक है । आचार्य शुक्ल ने इस काल का परिचय देते हुए यह बताया है कि इस युग के प्रायः कवि चारण थे । काव्य सर्जना में चारणों की अतिव्याप्ति के कारण रामकुमार जी ने इस काल को चारण

काल की संज्ञा प्रदान की है । राहुल जी ने चारण कवियों द्वारा प्रणीत रचनाओं के कलेवर में सामन्तीय प्रवृत्ति की बहुलता को देखते हुए 1050 के आस पास से जन्मने वाली डिंगल भाषा की कविता को सामन्तीय काव्य कहा है और इस काल को सामन्त काल बताया है । उनके विचार से सामन्तों की स्तुति परक रचनाओं का मूल स्वरूप तो कुछ ऐसा है कि जिसमें युद्ध विवाह आदि की अतिरंजना पूर्ण वर्णन के व्याज से आश्रयदाता सामन्तों के जीवन से जुड़ी हुई छोटी - बड़ी बातें वीरता और विलास के लिबास में उपस्थित की गयी हैं, किन्तु इसमें प्रमुख स्वर सामन्तों के यशगान का ही है । यह भी चिन्त्य है कि यह सामन्तीय काव्य राजस्थानी डिंगल में लिखा गया है । डा0 मेनारिया के मतानुसार - चारण भाषा में कविता लिखने के आरम्भक भाट थे, जो भट्ट अर्थात् ब्रह्म भट्ट तात्पर्य यह कि ब्राह्मण ही थे । विरुदावली बखानने वाले ये ब्राह्मण कवि आश्रयदाता राजन्य वर्ग के यश का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन किया करते थे और उनकी वीरता की लम्बी-चौड़ी डींगें मारते थे ।

वैसे तो डिंगल राजस्थानी भाषा की एक शैली विशेष है, किन्तु दसवीं से तेरहवीं शती के बीच इस भाषा ने राजस्थान के वीर ठाकुरों की लड़न्तिहार वृत्ति को आत्मसात् करके वीर भाव प्रधान जिस अभिनव साहित्य सम्पदा को उपस्थित किया है । उस नाते यह वीर काव्य की जननी ही नहीं, परिपोषिका भाषा भी स्वीकार कर ली गयी । सीमित क्षेत्र के वीर जीवन की असीमित व्यंजना करने वाली इस भाषा की तत्कालीन काव्य रचना के बीच चार शैलियाँ दिखायी पड़ती हैं —

अ- जैन शैली ।
ब- चारण शैली ।
स- सन्त शैली ।
द- लौकिक शैली ।

किन्तु जैन, सन्त और लौकिक शैलियों का उतना प्रभाव इसलिए नहीं हो पाया कि तत्कालीन जीवन को मुखरित करने में पूर्णतः और प्रभाव सहित सर्वाधिक सफलता चारण शैली को ही मिली थी । उल्लेखनीय है कि डिंगल भाषा की इसी चारण शैली में रासो काव्यों की रचना हुई । बीसल देव रासो, परमाल रासो, पृथ्वीराजरासो, खुमान रासो जैसे गाथा प्रधान काव्यों का रूपायन इसी शैली के प्रदेय का परिणाम है । युद्ध और विलास अथवा वीर तथा श्रृंगार रस के वैभव एवं वर्चस्व को लेकर चलने

वाली चारणों की लेखनी ने हिन्दी काव्य धारा की लम्बी यात्रा में युगीन सामन्तों और युगीन सामन्तीय काव्य को अमरत्व दान किया है । आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के साहित्य में राजस्थानी साहित्य का अपना महत्व है । जिस परिमाण में यहां साहित्य सृजन हुआ है उसका कुछ ही अंश प्रकाश में आया है । अनगिनत हस्त लिखित ग्रन्थों में वह बहुमूल्य सामग्री ज्ञात - अज्ञात स्थानों में बिखरी पड़ी है जिनमें राजस्थान की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परम्परा की भरमार है ।[1] इस काल की डिंगल भाषा में प्रबन्ध, मुक्तक, गद्य, पद्य तो लिखा ही गया, रासो, वेलि, रूपक, विलास, प्रकास, झमाल, साखी, गुण आदि संज्ञक रचनाएं सामने लाई गयीं । स्फुट काव्य रचना के रूप में दोहा, गीत, छप्पय, कुण्डलियां, नीसाणी, झूलणा, नाराच, पद्धरी, तोटक, मोती दाम, रसावला, रेणकी, गाथा आदि का खूब प्रयोग किया गया है ।[2]

विषय की दृष्टि से न केवल प्रबन्धों में वैविध्य है अपितु डिंगल के गीत काव्य भी एकाधिक वर्गों में विभक्त है । डा० भाटी ने इसके ग्यारह भेद बताये हैं ।[3] इन अनेक प्रकार के गीतों में विविध विषय प्रशस्ति की दृष्टि से चार प्रकार के गीतों का महत्व विशेष उल्लेखनीय है । कीर्ति विषयक गीत, युद्ध विषयक गीत, दान विषयक गीत और भक्ति विषयक गीत अपनी प्राणवत्ता में प्रशस्ति से सम्बलित है ।

वस्तुस्थिति यह है कि राजस्थान का डिंगल साहित्य वहां के इतिहास प्रसिद्ध वीरों के अद्भुत शौर्य और पराक्रम की गाथाओं का अक्षय भाण्डार है । यदि एक ओर वहां के नायकों के चरित पद्य में रासो, प्रकास, विलास, वचनिका, रूपक आदि काव्य रूपों में लिखे गये तो दूसरी ओर गद्य में ख्यात, बात, विगत, पीढ़ी, वंशावली आदि के रूप में उनके उज्ज्वल चरित्र लिपिबद्ध हुए हैं । डिंगल पद्य में प्रशस्ति मूलक चरित काव्यों की प्रधानता है ।[4]

सामन्तीय काव्य की ख्याति का मुख्य कारण रासो काव्य की परम्परा है । ये रासो काव्य पौराणिक विश्वास का आधार लेकर रचे गए हैं । वीरों और वंशों की

- -

1- राजस्थानी सबद कोष : भूमिका : पृ० - 83

2- डा० नारायण सिंह भाटी : डिंगल गीत साहित्य : पृ० - 9

3- वही : पृष्ठ - 123 - 32

4- डा० वासुदेव सिंह : हिन्दी साहित्य का उद्भव काल : पृ० 165

उत्पत्ति सम्बन्धी अनेक कथाएँ रास काव्य में आई हैं ।[1] पृथ्वीराज रासो में परमार, प्रतिहार, चालुक्य तथा चौहानों की उत्पत्ति बताई गयी जो पौराणिक कल्पना से प्रभावित है ।[2] हिन्दी काव्य का सामन्तीय युग जिसे वीर युग कहते हैं, बर्बर समाज व्यवस्था और पूर्ण सभ्य समाज व्यवस्था के बीच की कड़ी है । यह समाज की युवावस्था के समान है जिसमें बौद्धिक और वैज्ञानिक विकास तथा सामाजिक संगठन का उत्कर्ष उतना नहीं दिखाई पड़ता जितना भावनाओं की तीव्रता के साथ मानवीय प्रयत्नों का सशक्त रूप दिखायी पड़ता है । किसी जाति का वीर युग वही होगा जिसमें व्यक्तिगत वीरता को महत्व देने के साथ ही साथ वीर व्यक्ति भी समाज की भावनाएँ और शक्तियाँ महत्व देती हैं । कारण यह है कि वीर व्यक्ति ही समाज की भावनाओं और शक्तियों का प्रतीक बनता है और वीरता समाज की एक प्रधान प्रवृत्ति हो जाती है ।[3] कहना न होगा कि हिन्दी के सामन्तीय काव्य में ये प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं ।

हिन्दी वीरगाथाओं में चन्देल, चालुक्य, प्रतिहार, चौहान आदि क्षत्रिय राजवंशों का उद्भव और विकास ही काव्य का उपजीव्य बन कर सामने आया है । चन्देल और चौहानों का इन वीरगाथाओं में प्रमुखता पाई जाती है । "हेमवती कथा के आधार पर चन्देल वंश के प्रवर्तक भगवान चन्द्र के पुत्र चन्द्रवर्मा थे, जिनके शौर्यचित कार्यों का वर्णन चन्दबरदाई के रासो तथा जनश्रुतियों में पाया जाता है । भगवान चन्द्र ने स्वयं प्रकट होकर अपने औरस यद्यपि पुत्र चन्द्रवर्मा को पारस पत्थर प्रदान कर राजनीति की शिक्षा दी । अपनी माता के अपयश को दूर करने के लिए खजुराहो महा यज्ञ की पूर्णाहुति के बाद कालिंजर दुर्ग का निर्माण करके चन्द्रवर्मा ने अपने लिए एक राज्य की स्थापना की । उसने अनेक युद्ध किए और अनेक राजाओं को पराजित किया । गौंड़ तथा कोलीन के राजा उसके दास थे ।[4] महाकवि चन्द ने भी अपने रासो में लिखा है कि बारह वर्ष के हुए की अवस्था में वह सिहोरा तथा गहोरा प्रान्तों की जीत कर अश्व घोड़े, गाय व बैल लूट कर कालिंजर वापस गया ।[5] किन्तु चन्द्रवर्मा

1- डा० सुमन राजे : हिन्दी रासो काव्य परम्परा : पृ० 85 - 87
2- भविष्य पुराण : पृ० 45 - 47
3- एन०के०सिद्धान्त, द हीरोइक एज आफ इण्डिया : पृ० 114-15
4- इण्डियन एण्टीक्वेरी : पृ० 33
5- डा० अयोध्याप्रसाद पाण्डेय : चन्देल कालीन बुन्देल खण्ड का इतिहास : पृ० 18 - 19

की ऐतिहासिकता संदिग्ध है क्योंकि किसी भी चन्देल शिलालेख अथवा ताम्रपत्र में उसका निर्देश नहीं है । चन्देल शिलालेखों के आधार पर इस वंश का उद्भव महर्षि अत्रि से माना गया है । खजुराहो शिलालेखों में महर्षि अत्रि के पुत्र चन्द्र अथवा चन्द्रोदय की इस वंश का आदि पुरुष मानकर उसकी बड़ी प्रशंसा की गयी है ।[1] डा० हेमचन्द्र रे ने चन्द्रवर्मा की महाराज नन्नुक का विरुद सूचक शब्द माना है । चन्देल अभिलेखों के आधार पर यह मत उचित प्रतीत होता है । खजुराहो शिलालेख में यह वर्णन है कि नन्नुक ने दिग्वधू आननों को अपने पराक्रम रूपी चन्दन से विभूषित किया और उसके सभी शत्रु उसके अभूतपूर्व पराक्रम के समक्ष नतमस्तक थे ।[2] नन्नुक के पश्चात् वाक्पतिराज चन्देल वंश का सबसे प्रतापी राजा हुआ । वाक्पतिराज के नाम से 'गौड़वहो' नामक एक काव्य ग्रन्थ का भी उल्लेख है । वाक्पतिराज के जयशक्ति और विजयशक्ति नामक दो पुत्र थे । यह बात तो यह है कि जयशक्ति के पुत्र राहिल ने ही चन्देल राज्य की नींव डाली थी । इसका शासन काल 890 ई० से 910 ई० तक माना जाता है । यह एक महत्वाकांक्षी राजपुरुष था । कई प्रतिहारों का सामन्त होते हुए इसने कुरय तथा कलचुरि नरेशों से वैवाहिक सम्बन्ध संस्थापित किए थे । इसके उपरान्त हर्ष देव सिंहासनारूढ़ हुआ, जिसने चन्देल इतिहास में नये युग का सूत्रपात किया । हर्षदेव के बाद यशोवर्मन ने चन्देलों को वास्तविक प्रतिष्ठा प्रदान की । यशोवर्मन् के पश्चात् धंगदेव का नाम चन्देल वंश के राजाओं में विशेष उल्लेखनीय है । खजुराहो के शिला लेख और नन्यौरा ताम्रपत्र से स्पष्ट होता है कि महाराज हर्षदेव से लेकर धंग तक इस राज्य का लगातार विस्तार होता रहा । धंग देव के बाद गंडदेव 1003 - 1025 तक चन्देल वंश का शासक रहा । इस प्रकार इस राजवंश में विजयपाल, देव वर्मन, कीर्तिवर्मन देव, यशोवर्मन द्वितीय आदि प्रख्यात राजा हुए । बताया जाता है कि यशोवर्मन का वास्तविक दृष्टि से राजा के रूप में कहीं उल्लेख ही नहीं मिलता, किन्तु अजयगढ़ शिलालेख के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से यह पता चलता है कि चन्देल राज्य की यशगाथा के निर्माण में उसका बहुत योगदान रहा । सेमरा दानपत्र से पता चलता है कि यशोवर्मन, मदनवर्मा का उत्तराधिकारी था । मदनवर्मन के पश्चात् तत्पादानुध्यात विरुद के साथ परमर्दिदेव का निर्देश मिलता है । लगता है यशोवर्मन् मदनवर्मा का

1- डा० अयोध्याप्रसाद पाण्डेय : चन्देलकालीन बुन्देल खण्ड का इतिहास : पृ०-19

2- इण्डियन एन्टीक्वेरी : भाग 1 : पृष्ठ 141

पुत्र और परमर्दिदेव का पिता था । स्मिथ महोदय के विचार से यशोवर्मन् चन्देल सिंहासन पर कभी नहीं बैठा और उसकी मृत्यु मदनवर्मन के जीवनकाल में ही हो गई थी ।[1] रे महोदय ने भी उसके राजा न होने की बात का समर्थन किया है और एक नया सत्य सामने लाते हुए यह स्वीकार किया है कि उसके पुत्र परमर्दिदेव ने अपने पिता यशोवर्मन से राज्य छीन लिया था । किन्तु परमर्दि देव ने ऐसी धाक जमायी कि लोग यशोवर्मन को भूल ही गए । परमर्दि देव ने 1165 ई० 1203 तक राज्य किया । इस तथ्य का प्रमाण पृथ्वीराज रासो - 'कायो कोप चन्देल पर सम्भरि सम्भरीवार' जैसी पंक्तियों से मिलता है । शिलालेखों और जनश्रुतियों से प्रमाणित है कि परमर्दि देव बड़ा प्रतापी, वंश की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाला और विस्तारवादी राजा था । अपने शासन काल में वह तुर्क और चौहान दो महान शक्तियों से लड़ता रहा और चन्देलों की खोई हुई शक्ति को संगठित किया, कलचुरियों को पराजित किया तथा मुस्लिम आक्रमण का बहादुरी के साथ सामना किया । यह सब होते हुए भी कुतबुद्दीन ने अपनी संगठित योजना के परिणामस्वरूप अन्ततः चन्देलों को पराजित करके बुन्देलखण्ड में अपना राज्य स्थापित कर लिया । आल्ह खण्ड में उपलब्ध विवरण के अनुसार तथा रासो में युद्ध वर्णन परम्परा के साक्ष्य पर परमर्दिदेव चन्देल का चौहानों से भी युद्ध होना बताया जाता है ।[2]

आदिकालीन हिन्दी का समस्त सामन्तीय काव्य राजपूतों की जीवन-पद्धतियों को ही व्यंजना है । क्षति से त्राण दिलाने वाली यह जाति अपने मूल और सहज रूप में लोकरक्षा के दायित्व निर्वाह में अपनी अर्थवत्ता सिद्ध कर सकती थी । क्षत्रिय राजपूत, क्षितिपति, अवनीश और ठाकुर की संज्ञाएं भारतीय वर्णव्यवस्था में इसी राजन्य वर्ग के लिए प्रयुक्त होती रही हैं । यह शब्द उनके शासक होने की बात को भी सूचित करता है । कीर्तिलताकार विद्यापति ने उनके लिए राजपुत्त शब्द का प्रयोग किया है । कालान्तर में परशुराम के प्रकोप से विनष्ट प्राय इस जाति की दस हजार गर्भवती महिलाओं की उदरस्थ करके धरित्री ने इनकी वंश परम्परा की अनुरक्षा की थी । उनसे जो सन्ताने उत्पन्न हुई वे सरज थीं इसलिए इनका नाम रजपूत रखा गया । इस प्रकार इस दृष्टिकोण से वे पृथ्वी पुत्र हैं । माता की रक्षा का दायित्व पुत्र का धर्म है । राजपूत पृथ्वी

- -

1- इण्डियन एन्टीक्वेरी : पृ० - 129

2- चन्देल कालीन बुन्देल खण्ड का इतिहास : पृ० - 96

और उस पर बसे हुए लोगों की रक्षा करने के लिए अपने धार्मिक संस्कारों से विवश थे । पृथ्वीराज रासो और हम्मीर रासो से ज्ञात होता है कि क्षत्रियों के प्रतिहार, चालुक्य, परमार और चौहान कुलों की उत्पत्ति दुष्ट दलन के निमित्त आबू पर्वत पर वशिष्ठ आदि ऋषियों द्वारा किए गए यज्ञ से मानी जाती है -

'दस हजार प्रभवंत । रिषि क्रिय ढंकि धात्री ।
फरसराम वै करत । आर हव वीर न मित्री ।
कासिप धो ले विद्यो । उदिक हारो मरिमण्डल ।
तपन तात पन धीठ । गयो मन प्रहै कमंडल ।
मधुधा विचार त. अदिट । निज रक्षा कारन थप्पिय ।
उत्पन्न हूर तिनके सरज । दिव्वि नाम रजपूत (रणपूज) दिय ।'[1]

'पृथ्वीराज रासो में दो हुई सूर्य और चन्द्रवंश की उत्पत्ति कथा के अनुसार मार्तण्ड का पौत्र दस मास शिव शापित वन में जाने से स्त्री हो गया था । चन्द्र सुत बुध उसी पत्नी के रूप में स्वगृह ले गया, जिससे चन्द्रवंश चला है । मार्तण्ड का पौत्र दस मास पश्चात् पुरुष भी हो जाता था जिससे सूर्य वंश की नींव पड़ी है । परमाल रासो में पृथ्वी का करुण पुकार सुन कर ब्रह्मा आश्वासन देते हैं कि शीघ्र ही बलि और सहित, आल्हा और ऊदल के रूप में अवतार लेकर तुम्हारा भार कम करेंगे । उसमें चंदेल वंश के आदि पुरुष चन्द्रदेव को दिखाते हुए उनके मातृपक्ष का सम्बन्ध एक विधवा ब्राह्मणी से समझने की धारणा प्रकट की गयी है ।'[2] इन पौराणिक प्रकार की परिकल्पनाओं के परिणामस्वरूप लिखे गए तमाम वीर काव्यों के प्रकाश में यह तथ्य पाया जाता है कि क्षत्रियों के 36 कुल या वंश थे । डा० राजबली पाण्डेय ने इनके 39 वंशों का उल्लेख किया है ।[3] रासो के अनुसार जिन क्षत्रिय वंशों का उल्लेख किया गया है उसका वर्णन निम्नवत् है -

'आदि ससि यादव वंस, ककुत्स्थ परमार सदावर ।
चाहुवान चालुक्क, छंद सिलार आभीयर ।

1- पृथ्वीराज रासो : छं० 2118/89

2- डा० राजपाल शर्मा : हिन्दी वीर काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति : पृष्ठ - 59

3- हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास : भाग 1 : पृ० 107

दोयमल्ल मकवान, गरुअं गोहिल पुत्र ।
चापोत्कट परिहार, राव राठौर रोसजुत ।
देवरा टांक सैंधव अनिग, यौतिक प्रतिहार दधिषट ।
कारट्टपाल कोटपाल हुल, हरितट गौर कलाव भट ।
धन्यपालक निकुंभ वर, राजपाल यविनोस ।
काल छुरक्के आदि दे, बरने बंस छतीस ।[1]

क्षत्रियों की उत्पत्ति और उनकी वंश परम्परा का जो निर्देश यहां संक्षेपतः किया गया है वही सामन्तीय काव्य के प्रणेताओं का प्रमुख उपजीव्य विषय रहा । इन सामन्तों की अपनी विशिष्ट जीवन पद्धतियां थीं जो इनसे सम्बद्ध काव्य में विषय सम्पदा के रूप में ग्रहण की गयी हैं । इन्हें हम क्षत्रियों की चारित्रिक विशेषताएं भी कह सकते हैं । डा० शर्मा ने इन प्रवृत्तियों को रेखांकित करते हुए छः कोटियों में विभक्त किया है ।[2]

(अ) सन्त-गौ-विप्र आदि वैदिक धर्म में समादृत प्राणियों को संरक्षण प्रदान करना
(ब) युद्धार्थ सदैव तत्पर रहना
(स) युद्ध भूमि से पलायन न करना
(द) युद्धादि जीवन-प्रसंगों में उत्तम नीतियों का आश्रय लेना
(य) अटूट स्वामि-भक्ति, और
(र) शरणागतों की प्राणपण से रक्षा करना ।

(अ) वर्ण व्यवस्था के भारतीय विधान में राजन्य वर्ग का आविर्भाव स्वयं भगवान की भुजाओं से माना गया है – 'बाहु: राजन्य: कृत: '। सचमुच शरीर में देव ने भुजाओं को कर्म का प्रतीक मानकर रचना और विनाश की अनन्त क्षमताएं उसमें ही अन्तर्हित कर रखी हैं । मानव अपनी भूमि में सब कुछ अपने बाहुबल से रचता और मिटाता रहा है । ठीक इसी प्रकार भारतीय राजनीतिक और सामाजिक जीवन में राजपूत जीवन की सार्थकता रचना और रक्षा में ही निहित रही है । भारतीय संस्कृति गौ, ब्राह्मण और देवों की संस्कृति है । इन तीनों की रक्षा और विकास का दायित्व क्षत्रियों का धर्म

1- पृथ्वीराज रासो : का० 53/278

2- वीरकाव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति : पृ० - 72

माना गया है —

'क्षतात् किलत्रायत इति उदग्रः
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ़ः ।'

लिखने वाले कवि कालिदास ने निश्चित रूप से भारतीय संस्कृति की इसी सबल रसधारा में क्षात्र धर्म की दीप्ति को मुखरित किया है । कहने की आवश्यकता नहीं कि वीरगाथा कालीन राजपूतों में इस सनातन क्षात्रधर्मी मूल्य को ससम्मान प्रतिष्ठित करने के सफल प्रयास होते रहे हैं, जिनकी रसात्मक एवं सोत्साह व्यंजनाएं हिन्दी की आदिकालीन वीरगाथाओं में पाई जाती हैं । पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो आदि समस्त सामन्तीय काव्यों में गो, ब्राह्मण और वेद के प्रति श्रद्धा और सम्मान का भाव अभंग रूप में विद्यमान है । कारण यह था कि भारत की आदिकालीन अर्थ चेतना गो वंश से संबद्ध रही । सामाजिक कल्याण का भाव ब्राह्मणों का जीवन धन था तथा ज्ञान के प्रतीक रूप में वेदों की प्रतिष्ठा लगातार बनी रही । राजा और उसकी राजनीति भारतीय समाज के पितृ तुल्य और धात्री तुल्य सदा दृष्टिगत रहे । ऐसी स्थिति में समस्त साम्राज्य की श्री वृद्धि चाहने वाले इन क्षितिपों का उद्देश्य ही आर्थिक समुन्नति, लोक कल्याणकारी राज्य और प्रबुद्ध नागर भाव को जगाना था । राजतन्त्र के अतिरिक्त आज की जनतान्त्रिक व्यवस्थाओं में भी इन शाश्वत मूल्यों के प्रति आग्रह का भाव ज्यों का त्यों बना हुआ है । धन धान्य से सम्पन्न समाज की आदिकालीन रीढ़ कृषि की प्रधानता के कारण गो वंश पर निर्भर करती थी । अस्तु, हिन्दू नरेशों का गो वंश के प्रति इसीलिए धार्मिक लगाव था । ब्राह्मण समाज के हित का चिन्तन करते थे इसलिए वे क्षत्रियों के कुलपूज्य थे । मन्त्रित्व और मार्ग निर्देशन का कार्य इन्हीं ब्राह्मणों को सौंपकर क्षत्रिय कुमार जीवन की सुख-सुविधाओं का उन्मुक्त भोग किया करते थे । वैचारिक असुख का निराकरण और सद्विचारों के संचय के सभी संसाधनों का कोष वेदों में विलसित रहा । यही कारण है कि भारतीय इतिहास के राजपूत काल में, जिसे हम हिन्दी का आदिकाल मानते हैं, इस त्रिक की बड़ी महिमा थी । यह स्वाभाविक ही था कि सामन्तीय काव्य में किंवा सामन्तीय जीवन में जीवन मूल्य के रूप में इनका बार-बार सश्रद्ध स्मरण किया जाये । निदान वीरगाथाओं में गो, ब्राह्मण और वेद की बड़ी चर्चाएं हुई हैं । विवेच्य काल के काव्य में प्रशस्ति के स्वर का संधान करते हुए इस तथ्य को सदा सामने रखना पड़ेगा ।

(ख) युद्ध राजा और राजनीति का प्रथम धर्म है । पौरुष की वह व्यंजना

लोकहित को समाराधना में सफल होकर बहुजन हिताय के लिए होतो है, युद्ध है। मानवीय शक्ति का उत्साह प्रेरित रचनात्मक उद्घाटन होने से हो राजनीति धात्री का रूप धारण करती है। सरलतम शब्दों में यों कहा जा सकता है कि बिना युद्ध के राज्य को रक्षा और विकास होना असम्भव चाहे न हो किन्तु कठिन अवश्य है। राजपूत काल संक्रमण और अस्थिरता का काल था। प्रथम और द्वितीय अध्याय में विवेच्य काल की विसंगतियों पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। इसलिए उस प्रसंग को न छेड़ते हुए इतना हो जान लेना काफी होगा कि युद्ध राजपूतों के जीवन की विवशता थी। वे रण की शय-शय्या में आँख खोलते थे, उनका शैशव और यौवन युद्ध की विभीषिकाओं में ही पल्लवित और पुष्पित होता था तथा वे युद्धस्थल में ही वीरगति को प्राप्त होते थे। रणांगन की शय-शय्या की सौगात के अतिरिक्त राजपूतों को अपनी जिन्दगानी की कोई बड़ी भेंट मिला हो नहीं थी। एतद्युगीन काव्य में इस तथ्य को प्रमाणित करने वाले अनेक दृष्टान्त और प्रमाण सुलभ हैं कि क्षत्रिय कुमार सोलह-अठारह वर्ष से अधिक जीवित हो नहीं रह पाते थे। यदि वे किसी प्रकार बच निकल कर दीर्घजीवी हो भी गए तो वे समाज में सम्मानित नहीं होते थे।

राज्य लोभ का विस्तार और नारियों का अभिसार हो तो हिन्दू सामन्तों के जीवन का प्रेरणा स्रोत था। इन उभय प्रेरणाओं के परिपाक थे युद्ध। राजपूतों के जीवन का पूरा परिवेश युद्धमय था। ऐसी स्थिति में उस समय के काव्य की मूल चेतना वीर रस से अनुप्राणित थी। आचार्य शुक्ल ने वीर भाव की इस प्रधानता के कारण हो इस काल को वीरगाथा काल और इस काव्य को वीर काव्य कहा है। परमाल रासो में अपनी वीरता के तेज से मण्डित चरित्रवाले आल्हा ने स्वयं कहा है — क्षत्रिय होने के कारण न तो मैं कृषि-कार्य कर सकता हूँ, और न वाणिज्य के द्वारा हो जीविकार्जन कर सकता हूँ; माँगने से मेरा धर्म नष्ट होता है। अतः सृष्टिकर्ता द्वारा क्षत्रियों के सृजन काल में उनके साथ करवाल बाँध देने के तथ्यों को दृष्टिगत करते हुए — युद्धस्थल में नमक हलाल करते हुए वीरगति प्राप्त करना हो मेरा जीवनोद्देश्य है।[1]

आदिकालीन क्षात्र धर्म के अन्तर्गत युद्ध क्षत्रियों के लिए मोक्ष प्राप्ति का कारण माना जाता था। वे युद्ध में वीरगति प्राप्त करने को खाट पर करवट की अपेक्षा

1- परमाल रासो : 19 : 1-2

अधिक मोक्ष प्रदायी मानते थे । उनके अनुसार युद्ध करना सच्चे राजपूत का परम धर्म था । युद्ध रत वाला क्षत्री युद्ध चर्चा सुनकर नाच उठता था । रासोकार चन्द बरदाई ने लिखा है -

'जंग बचन सुनि के नहिं नच्चै
ते रजपूत धरम नहिं सच्चै ।'[1]

राजपूतों के जीवन में यह धारणा घर कर गयी थी कि उन्हें युद्ध करने का सुअवसर किन्हीं सत्कर्मों के फलस्वरूप मिलता था । अतः ऐसे अवसर पर आगा-पीछा करने से जीवन और जन्म का उद्देश्य विनष्ट हो जाता है । महाराज पृथ्वीराज जैसे नरेशों की यह सदा कामना रहती थी कि युद्ध में ही जीवन के क्षण बिताकर सार्थक किए जायं । 'मन जगी अरि मिलि, हृदयमा खग्ग वाढ़ै'।[2] क्षत्रिय कुल की खेती पाली ही युद्ध है, वही उनकी वास्तविक निधि थी । वे जंग के द्वारा खलक को अधिकृत करके सुखसाम्राज्य की संस्थापना करना चाहते थे । जंग के द्वारा ही क्षत्रिय कुल शिव की सृष्टि एवं जीव का विनाश करने में लीन था । तलवार-धार पर प्राण त्यागना आवागमन से मुक्ति देने वाला था । तलवार के बूते पर वे विश्व की समूची सम्पदा हस्तगत करते थे :-

'खेती हम कुल खग्ग, खग्ग हम अक्षय खजानह ।
खग्ग करें दलबलत, नाम हम खग्ग निदानह ।
खल दल गंजन खग्ग, खेत हथ्थल हम उग्गह ।
खिति रंजन मुनि खग्ग, अछित्तु भग्गो, रनि अग्गह ।
खगधार तित्थ क्षत्री धरम, आवागमनहि आवहन ।
सो खग्ग बंधि हम हूर रज, धरहिन साहिबजान धन ।।[3]

क्षत्राणियाँ भी युद्ध की इस विभीषिका से पूरी तरह अपने को समायोजित किए हुए थीं । उन्हें अपने सतीत्व की रक्षा के अतिरिक्त जीवन के सुख-भोग की कोई

1- पृथ्वीराज रासो : का० 25, 35/191
2- ,, रासो : रेवातट समय ।
3- रा०वि० : 9 : 73

कामना ही नहीं रहती थी । वे यह जानती थीं कि युद्ध में सदा रत रहने वाले उनके पति का जीवन सदा अनिश्चय में ही है, उनकी चूड़ियों की रक्षा का कोई स्थाई आधार नहीं है । चन्द बरदाई ने 17 वर्षीय चन्द्रसेन की वीरगति का वर्णन करते हुए इसी स्थिति की प्रमाणित किया है । आल्ह खण्ड में भी इसके स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं — 'रोज लड़ाई जिनकी रन में तिनको कह चुरिअन की आस ।'[1] क्षत्रिय कुमार के वीरगति प्राप्त कर लेने पर वे शोक नहीं मनाते, उल्टे हर्षोल्लास के साथ पर्व की प्रसन्नता व्यक्त करते हैं । महाराज सोमेश्वर के खेत रहने से संतापित महाराज पृथ्वीराज समझाये जाते हैं कि धारा पर शरीर त्याग कर सूर्यमण्डल का भेदन करना क्षत्रियों का आदि धर्म है, अतः आपका शोक मग्न होना उचित नहीं है ।[2] युद्ध को ही जीवन का धर्म मानने वाले इन राजपूतों की संस्कृति में युद्ध से पलायन अधम कृत्य माना गया है । चन्द द्वारा रचित 'पृथ्वीराज रासो' में नाहर राय इस बात की घोषणा करता है कि मैं रण में पीठ नहीं दिखाऊँगा । अतः संग्राम स्थल से पलायन की अपेक्षा वीरगति पाना अपनी कीर्ति छोड़कर मर जाना ही उचित है —

"भग्गीन मुक्के रजपूत सौं, करौं नाम जिमि अचल छुट ।"[3]

वीरगाथा काल के कवियों ने युद्ध से पलायन करने वाले क्षत्रियों को कुल का कलंक मानकर उनकी निन्दा की है —

"जे भागे तेऊ मरे, तिन कुल लाग्यउ खेह ।
भिरे सु नर गय कीर्ति मिलि बसे अमर पुर गेह ॥"[4]

यही प्रवृत्ति आल्ह खण्ड में ऊदल की ललकार पूर्ण वाणी में भी प्रतिध्वनित होती है । वह कहता है जो क्षत्रिय अपना मोर्चा छोड़कर भागेगा, उसकी सात पीढ़ियों तक का नाम डूब जायेगा ।[5] ये वीर राजपूत इत्यादि माया मोह को त्यागने वाले योगियों के समान जिन्दगी की समूची सुख सुविधाओं को तिलांजलि देकर समर स्थल की

1- आल्हखण्ड : 435/16
2- पृथ्वीराज रासो : का० : 1199/3
3- वही : 1/164/57
4- वही : मो० 3/145/58
5- परमाल रासो : 5/147

वे मोक्ष स्थल मानते हुए युद्ध पलायन की प्रवृत्ति को अत्यन्त हेय कार्य समझते थे । उनके मत में – 'मरना तो एक दिन सबको है तो फिर युद्ध से पलायन करके यश मलिन क्यों किया जाय । राजपूत का कर्तव्य है कि उसके शरीर की चाहे बोटी-बोटी उड़ जाए किन्तु वह समरांगण में पैर पीछे न हटाए'।[1] युद्ध-स्थल में राजपूत मानवीय धर्मों का निर्वाह करते हुए उत्तम नीतियों का परिचय देते थे । भारत के इन क्षत्रिय नरेशों ने कभी भी अधम युद्ध करना उचित नहीं समझा । शस्त्रहीन शत्रु के साथ अथवा रात्रि के क्षण में अथवा धोखा देकर प्रहार करना क्षात्र-धर्म के विरुद्ध था । अबलाओं पर हाथ उठाना तो वे जानते ही नहीं थे । पीठ दिखाने वाले शत्रु पर भी वार करना वे अधर्म समझते थे । आहत शत्रु की सेवा करना तथा ससम्मान विदा करना वे अपना धर्म समझते थे ।

(स) शरण में आये हुए शत्रु को सुविधा और सुरक्षा देना वे अपना धर्म समझते थे । अपनी इस विशेषता के कारण उन्हें अकारण युद्ध का संकट झेलना पड़ता था । वीर काव्य में क्षत्रियों के इन गुणों की दीप्ति प्रज्वलित है । महाराज पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन गोरी के बीच युद्ध का मूल कारण यह था कि हिन्दू नरेश पृथ्वीराज ने गोरी द्वारा निष्कासित मीरहुसैन को शरण प्रदान कर दी थी । अलाउद्दीन और हम्मीर देव के मध्य लम्बी अवधि तक चलने वाले भयंकर युद्ध का कारण यह था कि हम्मीर देव ने अलाउद्दीन के विरोधी महिमा शाह को पनाह दे दी थी । यह कुछ ऐसे तथ्य हैं जिनसे यह बात स्वतः प्रमाणित हो जाती है कि हिन्दी के आदिकालीन काव्य में जिन क्षत्रिय नरेशों के चरित्र अंकित हैं, उनमें शरण में आये हुए के प्रति सहायता की उत्कट भावना विद्यमान थी । क्षत्रियों के जीवन के इस मुख्य की व्यंजना ने भी विशेष रूप से वीरगाथाओं में प्रशस्ति भावना को सम्मिलित किया है ।

(द) आदिकालीन भारत की ऐतिहासिक और राजनैतिक परिस्थितियों का अवलोकन करते हुए यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि तत्कालीन हिन्दू समाज प्रजा और सामन्त के अथवा शासित और शासक के वर्गों में बंटा हुआ था । प्रत्येक छोटा-बड़ा सामन्त अपने अधीनस्थ लोगों की सुरक्षा और संवर्धन का दायित्व निभाना अपना धर्म समझता था ।

1- परमाल रासो : 5 - 147 तथा 23 - 141 .

इस संवेदनशील सम्बन्ध का सुफल यह था कि विवेच्य काल के समाज में स्वामिभक्ति की भावना का चौतरफा प्रसार और प्रचार था । संकटापन्न स्वामी का साथ देना प्रत्येक सम्बन्धित व्यक्ति अपना अनिवार्य कर्त्तव्य समझता था ।

स्वामी को संकट परै जो तजि भाजै दूर ।
लोक अजस परलोक में जमपुर जात जरूर ॥[1]

स्वामी के प्रति कर्त्तव्य और निष्ठा की उदात्त वृत्तियों की प्रतिष्ठा करना हिन्दी की आदिकालीन वीरगाथाओं की बहुत बड़ी देन है । पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो आदि सुख्यात और लोकप्रिय वीर गाथाओं में सामन्तीय जीवन का यह औदात्य अपनी सम्पूर्ण गरिमा और शालीनता के साथ अवतरित किया गया है । चन्द कवि ने लिखा है -

'धरे धर्म सोई सु कन्नीय सूरै । उबारैत स्वामी अधौरै हजूरै ॥[2]

इसी स्वामिभक्ति की भावना को उभारते हुए परमालरासो कार ने यह लिखा है कि शरीर में शक्ति रहते हुए स्वामी का साथ छोड़ने वाला प्राणी सैकड़ों जन्म तक यमयातना से मुक्त नहीं हो पाता -

"तन रहौं स्वामि छिटक पराय ।
सत जन्म और जम लोक जाय ।"[3]

इस संक्षिप्त विवेचन के बीच से उन सामन्तों के जीवन की सामान्य प्रवृत्तियाँ स्वतः उभर कर सामने आ गयी हैं, जिनकी दिनचर्या ही विवेच्य काल की वीरगाथाओं का विषय है । चरित नायकों के जीवन और जाति की संस्कारगत ये विशेषताएँ आलोच्य काव्य धारा के वस्तु और शिल्प दोनों पक्षों को बहुत दूर तक प्रभावित करती हैं । इस सन्दर्भ में आदिकालीन वीरगाथाओं की प्रमुख वृत्तियों का उल्लेख कर देना भी गृहीत विषय के विचार से प्रसंगानुकूल होगा ।

1- हम्मीर रु० : 269
2- पृथ्वीराज रासो : का०, 2577/51
3- वही : मो० 1/339/21

(ख) सामन्तीय काव्य : दरबारी चेतना :-

सामान्यतया हिन्दी की आदिकालीन काव्य चेतना जो सामन्तीय प्रभाव में रची गयी है, दरबारी है । यह स्पष्ट किया जा चुका है कि ये वीरगाथाएं वीर सामन्तों की यशगाथा को अमरता प्रदान करने के लिए उनके आश्रित कवियों द्वारा ही लिखी गई हैं । आश्रित कवि द्वारा लिखी गई आश्रयदाता की यह जीवनी दरबारी शिष्टाचार के प्रभाव से पूर्णतया मोहित है । दरबारों में जिस प्रकार अतिरंजना पूर्ण प्रशंसा और विरुदावली बखानी जाती है वह आलंकारिक शब्दावली और चामत्कारिक प्रवृत्ति की ही वशवर्तिनी होती है । यह मानने में कोई संकोच नहीं कि डिंगल भाषा में लिखित इन कृतियों की भाषा शैली तथा विषय प्रतिपादन सभी में अतिरंजना और ऊहा का सहज रूप में प्रयोग किया गया है, किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं है कि जिसके आधार पर इन कवियों की कल्पनाओं को कोरी उड़ान कहा जाय । इस काल के साहित्य का रचना केन्द्र राजस्थान था । राजपूताना की यह समस्त धरती राजपूत नरेशों के खण्ड राज्यों में विभक्त थी । इसके साथ राजनीतिक अस्थिरता एवं बिखराव की प्रवृत्ति का व्यापक प्रभाव समस्त मध्य भारत में छाया हुआ था । सीमित राज्य के छोटे-छोटे दरबार कला एवं साहित्य की सर्जना के प्रेरणास्थल बने हुए थे । दरबारी कवि अपने आश्रयदाताओं का यशगान सैन्य चेतना एवं अर्जित भूभाग की शौर्य-प्रतीष्ठा की विरुदावली बखानना ही अपना धर्म-कर्म समझते थे । यही उनके काव्य में अभिव्यक्ति था । निदान इस युग में पृथक्-पृथक् राज्यों के राजवंशों के यश एवं शौर्य-भाव से विभूषित विशाल काव्य महाकाव्यों की संरचना हुई । इन काव्यों में आयातित ईश्वर एवं विषय वस्तु सम्पदा के स्थापन में राजस रुचि का गाढ़ा रंग पाया जाता है । दरबारों के दृश्यांकन में प्रायः सभी कवि एक पारम्परिक और बंधी-बंधाई शैली में छत्र-सिंहासन, मन्त्री-पुरोहित, चारण-पण्डित, कवि-गायक, रक्षक और नर्तक समुदाय से संबंधित व्यक्तियों और क्रियाओं की अनिवार्य अभिव्यक्ति पाई जाती है । इसी भांति राजाओं के रण-प्रयाण में सेना के चतुरंग रूप का चित्रण करना एक प्रकार से कवि रूढ़ि बन गयी थी, भले ही आश्रयदाता कवि में चतुरंगिणी चमू रखने की क्षमता न रही हो । अन्तःपुर और रनिवासों की चाक-चिक्य पूर्ण झांकी झलकाने में कवियों की कल्पनाएं सुर पुर की ऐश्वर्य को तुच्छ ठहराती हैं । वेशभूषा और वर्ण-विन्यास में मणि मुक्ताओं की झलक के श्रीवृद्धि के साथ ही साथ मूल्यवान वस्त्रों में वर्णित विभा का सामन्तीय स्वरूप ।

सर्वत्र वैचित्र्य विधान करता है । यहाँ एक बात विशेष उल्लेखनीय यह है कि वीर गाथाओं के चरित नायक हिन्दू नरेश धर्म के पौराणिक तन्त्र से अनिवार्यतः जुड़े हुए थे अतएव सामन्तीय परिवेश के चित्रण में पौराणिक बोध पूरी गम्भीरता के साथ सामने लाया गया है ।

खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो तथा हम्मीर रासो आदि अनेक वीरगाथात्मक काव्यों का वस्तु एवं उपस्थापन पक्ष अपने समय की सामन्तीय प्रवृत्तियों का एक सच्चा दस्तावेज प्रस्तुत करता है । चारण कवि अपने आश्रयदाता की धार्मिकता, वीरता, युद्ध कौशल एवं ऐश्वर्य की निदर्शना ओज गुण प्रधान वीर रसमयी भाषा में करते थे । इस तथ्य को नजरन्दाज नहीं किया जा सकता कि चारण कवियों द्वारा रचित वीरगाथाओं में अपने पक्ष की प्रशंसा और पर पक्ष या शत्रु पक्ष की निन्दा की प्रवृत्ति बड़ी प्रबल थी । विवेच्य काल की रचनाओं में वर्णित घटनात्मक तथ्य इतिहास और कल्पना के मिश्रण से फलित हो रहे थे । चरित्र और घटना विकास की अपेक्षा इन कवियों का ध्यान ऐश्वर्य एवं प्रताप के वर्णन की ओर अधिक था । यही कारण है कि सामन्तीय साहित्य के रूप में रची गयी वीर गाथाओं में वर्णित वस्तु की प्रामाणिकता सदा सन्देह दृष्टि से देखी जाती रही । रण-सज्जा, युद्ध, शत्रु विजय, विवाह, पूजा पाठ, यज्ञ, बलि, नख-शिख, सौन्दर्य निरूपण, शृंगार प्रसाधन, नायक-नायिका भेद, जलक्रीड़ा, विहार, आखेट और ऋतु आदि के विस्तृत एवं चटकीले चित्र ही इन वीरगाथाओं का कलेवर स्फुट है । कुछ एक कवियों ने अनेक स्थलों पर नाम परिगणन शैली को अपनाते हुए हाथी-घोड़ों, वस्त्रों-आभूषणों, की नीरस नामावली देकर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान ली है ।

आदिकालीन हिन्दी काव्य की रचना के समय की राजनीतिक परिस्थितियाँ इतनी हलचल पूर्ण थीं कि साहित्य में उनकी अस्थिरता का सीधा प्रभाव सामने आ गया है । शत्रुओं से लड़ाई करने में रत क्षत्रियों के हृदय में क्रोध, उत्साह, अभिमान, आत्म-श्लाघा आदि की युगानुकूल व्यंजना इस काल के काव्य में भरी पड़ी है । तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक दशाओं का चित्रण भी इस काल के काव्य में पाया जाता है । यह राजपूत राजा बौद्ध के अहिंसावाद के विरोधी थे । अनेक देवी-देवताओं की उपासना के द्वारा ब्राह्मण धर्म की पुनः प्रतिष्ठा करना उनका लक्ष्य था । किन्तु उनके समय की सामन्तीय व्यवस्था में सामन्त के वैयक्तिक स्वार्थ को जितना महत्व दिया गया था, उतना प्रजा के

हित के प्रति ध्यान नहीं था । राजा प्रजा का सुख न देखकर अपने शौर्य प्रदर्शन हेतु राज्य की समूची सम्पदा की स्वाहा कर देने में संकोच नहीं करता था । यही कारण है कि आदिकालीन काव्य में सामाजिक कल्याण और सामूहिक उन्नयन का भाव बहुत कम पाया जाता है । यद्यपि तत्कालीन साहित्य में राजनीति की पूरी व्यापकता के साथ अवतरित करने का सफल प्रयास किया गया है, किन्तु असंदिग्ध भाव से जनसामान्य के लौकिक और धार्मिक जीवन को तिरस्कृत भी किया गया है ।

वीरगाथा काल की रचनाओं के सम्बन्ध में एक तथ्य और निवेदित करके हम इस प्रसंग को समाप्त करना चाहेंगे कि इस काल के ग्रन्थों की उपलब्धि का प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद है । इस काल में लिखे गए ग्रन्थ या तो मौखिक रूप से गाए जाने के कारण जनवाणी में व्याप्त हैं या राजस्थान की 'ख्यातों' में उनके विवरण पाये जाते हैं, जो ग्रन्थ रूप में कृतियाँ आज सुलभ भी हैं वे अपने मूलरूप से बहुत कुछ बदल चुकी हैं । इस अन्तराय का कारण परवर्ती कवियों द्वारा किया गया प्रक्षेप है । अभी तक हमने सामन्तीय संस्कार में लिखी गयी जिस काव्यधारा की ओर संक्षेपतः निर्देश किया है, उसके डिंगल नाम को लेकर विद्वानों के बीच जितनी चर्चाएँ हुई हैं उनसे एक ही निष्कर्ष निकलता है कि यह काव्य राजपूती सम्मान पर मर मिटने वाले लड़ैते वीरों की यश-गाथा ही है । अतः स्पष्ट रूप से यह घोषणा की जा सकती है कि यह काव्य प्रशस्ति की प्रेरणा से उद्भूत होकर प्रशस्ति की ही भावना से संचालित होता रहा । सैकड़ों वर्ष तक वीरभाव को पुष्ट करने वाली इस गाथात्मक शैली का ह्रास भी चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में सामन्तीय व्यवस्था के पराभव के साथ प्रारम्भ हो गया । इस पराभव का कारण हिन्दू राजाओं के पारस्परिक विद्वेष और उस विद्वेष के मध्य में ही मुसलमानों का प्रवेश था । जब भारतीय नरेशों की गौरवपूर्ण परम्परा का ही लोप होने लगा तो गौरव गाथा गाने वाले चारणों के पास अपने हृदय के उत्साह को अभिव्यक्त करने की सामग्री ही समाप्त हो गयी । इसलिए वीरगाथाओं का अजस्र प्रवाह जो सातवीं शती के उत्तरार्द्ध में प्रस्फुटित हुआ था, समाप्त प्राय हो गया ।

(ङ) <u>आदिकाल के कवि एवं काव्य :</u>

जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में विवेचना प्रस्तुत की गयी है, आदिकाल का वह समूचा काव्य जो प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विवेच्य है, साधना और सामन्तीयता की उभय प्रवृत्तियों को मिला कर चार वर्गों में विभक्त है :-

(अ) जैन काव्य }
(ब) सिद्ध काव्य } अपभ्रंश भाषा
(स) नाथ काव्य }
(द) वीर काव्य - डिंगल भाषा

इस काल के सभी प्रमुख कवियों तथा उनके काव्यों की तालिका अथवा विवरण इसी चतुर्वर्ग के आधार पर प्रस्तुत किया जायेगा । यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि साहित्य के विभिन्न ऐतिहासिक स्रोतों से तमाम कवियों और कृतियों के नामनिर्देश किए गए हैं, किन्तु अद्यतन शोध के प्रकाश में यह प्रमाणित हो चुका है कि उन सभी कवियों और कृतियों का तथ्यपूर्ण विवरण प्रस्तुत कर पाना बहुत कठिन काम है । अतः उपलब्ध प्रमाण और सामग्री का उपयोग करते हुए ही संबंधित तथ्य पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा ।

जैन कवि एवं काव्य :- डा० पुरुषोत्तमदास मेनारिया ने पुरानी हिन्दी अथवा हिन्दी के आदिकालीन जैन कवियों की नामावली प्रस्तुत करते हुए जिनका उल्लेख किया है, उनमें निम्न रचनाकारों के नाम आते हैं !-

1- पुष्य, वि०सं० 700, दोहों में रचित अलंकार ग्रन्थ ।
2- देवगणा, वि०सं० 900, चतुर्योग भावना ।
3- गोरखनाथ, वि०सं० 900, गोरखवाणी ।
4- खुमाण, वि०सं० 900, खुमाण रासा ।
5- देवसेन, वि०सं० 990, (1) सावयधम्म दोहा (2) दर्शनसार ।
6- पुष्पदन्त, वि०सं० 1015, (1) महापुराण (2) जसहर चरिउ (3) णायकुमार चरिउ ।
7- लाखा, वि०सं० 1036, फुटकर दोहे ।
8- रामसिंह, वि०सं० 1050, पाहुड़ दोहा ।
9- धनपाल, वि०सं० 1050, भविसयत्तकहा ।
10- मुंज, वि०सं० 1050, फुटकर दोहे ।
11- भोज, वि०सं० 1050, फुटकर दोहे ।

1- राजस्थानी साहित्य का इतिहास : संस्करण । : पृ० 52-56

12- कनकामर मुनि, वि०सं० 1116, करकंड चरिउ ।

13- जिनवल्लभ सूरि, वि०सं० 1116, वृद्धनवकार ।

14- जिनदत्त सूरि, वि०सं० 1150, (1) चाचरि (2) उवएसर सायणु (3) काल स्वरूप कुलक ।

15- आम भट्ट, वि०सं० 1150, फुटकर छन्द ।

16- अज्ञात, वि०सं० 1209, उपदेशतरंगिणी ।

17- महेश्वर सूरि, वि०सं० 1220, सम्यक्त्व मंजरी ।

18- जिनपति सूरि, वि०सं० 1232, बधावणा गीत ।

19- ब्रज्रसेन सूरि, वि०सं० 1225, 1225, भरतेश्वर बाहुबलि घोर ।

20- ठुमण चारण, उपदेश तरंगिणी में संकलित रचनाएँ ।

21- रामचन्द्र चारण, पुरातनाचार्य प्रबन्ध में संकलित रचनाएँ ।

22- आगम कवि, पुरातनाचार्य प्रबन्ध में संकलित रचनाएँ ।

23- उदय सिंह चारण, प्रबन्ध चिंतामणि में संकलित रचनाएँ ।

इसी भांति कुछ अन्य जैन कवि और काव्य का विवरण डा० मेनारिया ने निम्नवत् प्रस्तुत किया है ।[1]

1- जिन पद्मसूरि, वि०सं० 1250, थूलिभद्द फागु ।

2- विनयचन्द्र सूरि, वि०सं० 1250, नेमिनाथ चतुष्पदि ।

3- अजयपाल, वि०सं० 1255, फुटकर छन्द ।

4- आसिगु, वि०सं० 1257, (1) जीवदया रास (2) चन्दनबाला रास ।

5- धर्म (धम्म) सूरि, वि०सं० 1266, जम्बू स्वामी रास ।

6- अभयदेव सूरि, वि०सं० 1285, जयन्त विजय ।

7- विजयसेन सूरि, वि०सं० 1287, रेवतगिरि रास ।

8- पल्हण, वि०सं० 1289, (1) आबूरास (2) नेमिनाथ बारहमासा ।

9- जिनभद्र सूरि, वि०सं० 1290, वस्तुपाल तेजपाल प्रबन्धावली ।

10- सुमतिगणि, वि०सं० 1295, (1) नेमिरास (2) गणधर सार्धशतक वृहद्वृत्ति ।

11- साधना, वि०सं० 1300, भक्ति के पद ।

12- लखण, वि०सं० 1300, अणुव्रतरण ।

1- राजस्थानी साहित्य का इतिहास : संस्करण 1 : पृ० 76 - 78

13- अभय तिलकगणि, वि०सं० 1307, महावीर रास ।

14- लक्ष्मीतिलक उपाध्याय, वि०सं० 1311, (1) बुद्ध चरित्र
(2) श्रावक धर्म प्रकरण वृहत्वृत्ति ।

15- आणंद सूरि एवं प्रेमसूरि, वि०सं० 1323, व्दादश भाषा (दल) निबद्ध
मातृकामाला रास ।

16- रत्नप्रभ सूरि, वि०सं० 1324, पद ।

17- त्रिलोचन, वि०सं० 1324, रचनाएं अप्राप्य ।

18- कवि सोममूर्ति, वि०सं० 1331, जिनेश्वर सूरि दीक्षा विवाह वर्णन रास ।

19- सोम मूर्ति (?), वि०सं० 1332, जिन प्रबोधसूरि चर्चरि ।

20- मुनि राजतिलक, वि०सं० 1332, शालिभद्र रास ।

21- हेमभूषण गणि, वि०सं० 1341, जिनचंद्र सूरि चर्चरि ।

22- अज्जड, वि०सं० 135., हमीर की प्रशंसा में काव्य ।

23- अज्ञात, वि०सं० 1356, शालिभद्र कक्का ।

24- मेरुतुंगाचार्य, वि०सं० 1361, प्रबन्ध चिन्तामणि संग्रह ।

25- श्रावक ... , वि०सं० 1362, बीस विरहमान रास ।

26- राजशेखर सूरि, वि०सं० 1370, नेमिनाथ फागु ।

27- गुणाकार सूरि, वि०सं० 1371, श्रावक विधि रास ।

28- अम्बदेव सूरि, वि०सं० 1371, समरारास ।

29- मुनिधर्म कलश, वि०सं० 1377, जिन कुशल सूरि पट्टाभिषेक रास ।

30- बब्बु, (1) बेमपाल (2) व्दिपदिका ।

31- सारमूर्ति, पद्मसूरिपट्टाभिषेक रास ।

32- जिन पद्मसूरि, स्थूलभद्र रास ।

33- पउम, शालिभद्र काव्य ।

34- सोलणु, चर्चरिका ।

35- जिनप्रभ सूरि, वि०सं० 1385, पद्मावती चौपाई ।

36- राजेश्वर सूरि, वि०सं० 1405, (1) प्रबन्ध कोष (2) नेमिनाथ फागु ।

37- हलराज, वि०सं० 1409, स्थूलिभद्र फागु ।

डा० नामवर सिंह ने अपभ्रंश भाषा में रचित एवं ज्ञात रचनाओं और —

रचयिताओं की जो सूची अकारादि क्रम से प्रस्तुत की है[1] वह इससे समता रखते हुए भी जैन साहित्य की काव्य कृतियों की और अधिक व्यापक परिधि प्रदान करती है, सामने लाया जाना अपेक्षित है।

1-	अंजना सुन्दरी कथा		
2-	अनन्तव्रत कथानक		
3-	अनाथ सन्धि	-	जिनप्रभ सूरि
4-	अंतरंग रास	-	"
5-	अंतरंग विवाह	-	"
6-	अंतरंग संधि	-	रत्नप्रभ सूरि (सं0 1362 वि0)
7-	अमरसेन चरित	-	माणिक्य राज
8-	आत्म संबोधन कुलक	-	जिनप्रभ सूरि
9-	आदिनाथ फाग	-	पुष्पदन्त
10-	आदिपुराण (मेघेश्वर चरित)		सिंहसेन (रइधू)
11-	आराधना सार		वीर
12-	उपदेश कुलक		देवसूरि
13-	ऋषभ जिन स्तुति		
14-	कथा कोष		श्री चन्द (941 - 996 ई0)
15-	करकंड चरिउ		कनकामर मुनि
16-	करकंडचरिउ		रइधू
17-	कालस्वरूप कुलक		जिनदत्त सूरि
18-	कालिकाचार्य कथा (आर्थर डब्ल्यू ब्राउन)	-	अंशतः अपभ्रंश; ब्राउन द्वारा संपादित।
19-	कुमारपाल प्रतिबोध		सोमप्रभ सूरि (1241 वि0) अंशतः अपभ्रंश।
20-	कुवलयमालाकथा		उद्योतन सूरि (सं0 835 वि0) अंशतः अपभ्रंश।
21-	चन्द्रप्रभ चरिउ		यशः कीर्ति
22-	चन्द्रप्रभ चरित		दामोदर
23-	चर्चरी		जिनदत्त सूरि

1- हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग : संस्करण 4; पृ0 175 - 179

24-	चर्चरी	सोलग
25-	चर्चरी	जिनप्रभ सूरि
26-	चैत्य परिपाटी	"
27-	जम्बु चरित्र	(सं0 1299 वि0)
28-	जम्बुस्वामि चरित्र	वीर
29-	जम्बुस्वामि चरित्र	सागरदत्त (सं0 1060 वि0)
30-	जम्बुस्वामि रास	धर्मसूरि (1266 वि0)
31-	जयकुमार चरित्र	ब्रह्मदेव सेन
32-	जयकुमार चरित्र	रइधू
33-	जयतिहुअण	अभयदेव सूरि (1119 वि0)
34-	जिनजन्म गृह	जिनप्रभ सूरि
35-	जिनदत्त चरित्र	रइधू
36-	जिन महिमा	जिनप्रभ सूरि
37-	जिनरात्रि कथा	नरसेन
38-	जीवानुशास्ति संधि	नरसेन
39-	त्रिषष्ठि - महापुरुष - गुणालंकार (महापुराण) पुष्पदन्त	
40-	दंगह	
41-	दशलक्षण जयमाला	सिंहसेन रइधू
42-	दानादिकुलक	प्रद्युम्न
43-	दोहा पाहुड़	रामसिंह
44-	दोहा मातृका	
45-	धर्मसूरि स्तुति	
46-	धर्माधर्म कुलक	जिनप्रभ सूरि
47-	धर्माधर्म विचार	"
48-	नवकार फल कुलक	
49-	नागकुमार चरित	पुष्पदन्त
50-	नागकुमार चरित	माणिक्कराज
51-	निर्दोष सप्तमी कथा	
52-	नेमिनाथ जन्माभिषेक	जिनप्रभ सूरि

53-	नेमिनाथ चउपई	विनयचन्द्र सूरि (1257 वि0)
54-	नेमिनाथ चरिउ	हरिभद्र सूरि (8वीं से 12वीं शताब्दी के बीच किसी समय)
55-	नेमिनाथ चरित	दामोदर
56-	नेमिनाथ चरित	लक्ष्मण देव
57-	नेमिनाथ फाग	राजशेखर सूरि (1371 वि0)
58-	नेमिनाथ रास	जिनप्रभ सूरि
59-	पद्म चरित्र (पउम चरिउ)	स्वयंभू और त्रिभुवन
60-	पद्म श्री चरित्र	धाहिल (1191 वि0)
61-	पद्म पुराण	रइधू
62-	परमात्मा प्रकाश	योगीन्द्र
63-	पाण्डव पुराण	यशः कीर्ति
64-	पार्श्वनाथ चरित्र	विनयचन्द्र सूरि
65-	पार्श्वनाथ जन्माभिषेक	जिनप्रभ सूरि
66-	पार्श्वनाथ पुराण	रइधू
67-	पार्श्वनाथ पुराण	पद्मकीर्ति
68-	पुराण सार	श्रीचन्द्र मुनि
69-	प्रबोध बुद्ध चरित्र	
70-	प्रद्युम्न चरित्र	रइधू
71-	प्रबन्ध चिन्तामणि (अंशतः अपभ्रंश) - मेरुतुंग (1361 वि0)	
72-	वृद्ध नवकार	जिनवल्लभ सूरि
73-	बलभद्र चरित	रइधू
74-	बारह खड़ी दोहा	महाचन्द
75-	बाहुबलि रास	शालिभद्र सूरि
76-	भविसयत्त कहा	धनपाल
77-	भव्य कुटुम्ब	जिनप्रभ सूरि
78-	भव्य चरित्र	"
79-	भाव कुलक	"
80-	भावना सन्धि	जयदेव (1606 वि0)
81-	भावना सार	

82-	मदनरेखा चरित	(सं01297 वि0)
83-	मलयगिरि स्तुति	
84-	मल्लिनाथ चरित	जिनप्रभ सूरि
85-	महावीर चरित्र	जिनेश्वर सूरि का कोई शिष्य ।
86-	महावीर चरित	
87-	महावीर स्तोत्र	
88-	मुक्तावलि विधान कथा	
89-	मुनिचन्द्र सूरि स्तुति	देवसूरि
90-	मुनिसुव्रत स्वामि स्तोत्र	जिनप्रभ सूरि
91-	मृगपुत्र ऋषि चरित	(मृग पुत्र संधि)
92-	मेघेश्वर चरित	रइधू
93-	मोहराज विजय	जिनप्रभ सूरि
94-	यशोधर चरित्र (जसहर चरिउ)	पुष्पदन्त
95-	युगादिजिन-चरित्र-कुलक	जिनप्रभ सूरि
96-	योगसार	योगीन्दु
97-	योगसार	श्रुतिकीर्ति
98-	रोहिणीविधान कथा	देवनन्दी
99-	लघुअजित शान्तिस्तव	वीरगणि
100-	वज्रस्वामि चरित्र	
101-	वज्रस्वामि चरित्र	जिनप्रभ सूरि (सं0 1316 वि0)
102-	वर्धमान काव्य	(श्रेणिक चरित्र) - जयमित्र
103-	वर्धमान चरित्र	रइधू
104-	वस्तुपाल चरित्र	तेजपाल
105-	विलासवती कथा	सिद्धसेन सूरि
106-	विवेक कुलक	जिनप्रभ सूरि
107-	वीरजिन पारणक	वर्धमान सूरि
108-	शान्तिनाथ चरित	शुभकीर्ति
109-	शालिभद्र कक्का	पद्म
110-	शालिभद्र मातृका	
111-	शीलसन्धि	ईश्वरगणि

112-	श्रावक धर्म दोहा	देवसेन
113-	श्रावक विधि	जिनप्रभ सूरि
114-	श्रावकाचार	देवसेन
115-	श्रीपाल चरित	नरसेन
116-	श्रीपाल चरित्र	रइधू
117-	षट्कर्मोपदेश	अमरकीर्ति (1274 वि०)
118-	संयममञ्जरी	महेश्वर सूरि
119-	संघपति समरारास	अम्बदेव सूरि
120-	संभवनाथ चरित	तेजपाल
121-	संदेशरासक	
122-	[illegible]	
123-	सन्मति जिन चरित	रइधू
124-	सुकुमाल स्वामिचरित	पुण्यभद्र (पूर्ण भद्र)
125-	सुकुमाल चरित	श्री धर
126-	सुगन्ध दशमी कथा	
127-	सुदर्शन चरित्र	नयनन्दिन (1100 वि०)
128-	सुभद्रा चरित्र	अभयगणि (1161 वि०)
129-	सुभाषित कुलक	जिन भद्र
130-	स्थूलभद्र फाग	जिनपद्म सूरि (1257 वि०)
131-	हरिवंश पुराण	स्वयंभू और त्रिभुवन
132-	हरिवंश पुराण	रइधू
133-	हरिवंश पुराण	श्रुतिकीर्ति
134-	सिद्धहेम शब्दानुशासन (संकलित अपभ्रंश छंद)	हेमचन्द्र
135-	ज्ञानप्रकाश कुलक	जिनप्रभ सूरि

डा० रामकुमार वर्मा ने मात्र इक्कीस कवियों को जैन काव्य धारा के प्रणेता के रूप में उद्धृत किया है । इनमें स्वयंभु देव, देवसेन, पुष्पदन्त, धनपाल, मुनिराम सिंह, अभयदेव सूरि, चन्द्रमुनि, कनकामर मुनि, जिनवल्लभ सूरि, जिनदत्त सूरि, आचार्य हेमचन्द्र, हरिभद्र सूरि, शालिभद्र सूरि, सोमप्रभ सूरि, जिनपद्म सूरि, विनयचन्द्र सूरि, धर्मसूरि, विजयसेन सूरि, मेरुतुंगाचार्य, अम्बदेव सूरि, राजशेखर सूरि—

को नामांकित किया गया है ।[1]

डा० हरीश ने आदिकालीन हिन्दी में जैन कवियों व्दारा लिखी गयी कुछ मूल्यवान किन्तु अज्ञात कृतियों का एक शोध परक विवरण प्रस्तुत किया है ।[2] इस शोध-प्रबन्ध में यद्यपि अनुपलब्ध कृतियों के आधार पर कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता फिर भी इस धारा की समग्रता के विचार से उनका उल्लेख कर देना आवश्यक है :-

संख्या	शताब्दी	काव्य प्रकार	कृति नाम	रचनाकाल	रचनाकार
1	2	3	4	5	6
1	11वीं शताब्दी	उत्साह	सत्यपुरीय महावीर उत्साह	सं0 1081 लगभग	धनपाल
2	12वीं शताब्दी	महात्म्य	नवकार महात्म्य	सं0 1167 लगभग	जिनवल्लभ सूरि
3	12वीं शताब्दी	स्तुति	जिनदत्त सूरि स्तुति	सं0 1170	पल्ह
4	12वीं शताब्दी	स्तुति	श्रीमुनिचन्द्र गुरु स्तुति	सं0 1200 लगभग	वादिदेव सूरि
5	13वीं शताब्दी	घोर	भरतेश्वर बाहुबली घोर	सं0 1225	वज्रसेन सूरि
6	,,	रास	भरतेश्वर बाहुबली रास	सं0 1241	शालिभद्र सूरि
7	,,		बुद्धिरास	सं0 1241 के आसपास	,,
8	,,		चंदन बाला रास	सं0 1257	आसुग
9			जीवदया रास	सं0 1257	आसुग
10			थूलिभद्र रास	सं0 1257 के बाद	धर्म
11			रेवतगिरि रास	सं0 1288	विजयसेन सूरि
12			आबू रास	सं0 1289	राम (?)
13			नेमिनाथ रास	सं0 1290	सुमतिगणि
14	[illegible]	चरित	जंबूस्वामी चरित	सं0 1266 लगभग	धर्म
15		चतुष्पादिका	सुभद्रासती चतुष्पादिका	सं0 1266	धर्म
16	13वीं शताब्दी	गुणवर्णन	जिनवल्लभ सूरि गुणवर्णन	सं0 1245 लगभग	नेमिचंद्र भंडारी
17	,,	धवलगीत	जिनपति सूरि धवलगीत	सं0 1278	शाहरयण

1- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : पृ0 103 - 36
2- आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध (हिन्दी जैन साहित्य से संबंधित अंश का अवलोकन करें)

1	2	3	4	5	6
18	13वीं शताब्दी		जिनपति सूरि धवलगीत	सं01278लगभग	सत्तउ
19	"	दोहा	मातृका दोहा	सं01200लगभग	पृथ्वीचंद
20		सन्धि	भावना सन्धि	सं01300केलगभग	जयदेव
21		वस्तु	जम्बूसामो सक वस्तु	सं01300केलगभग	अज्ञात (?)
22	14वीं शताब्दी	रास	महावीर रास	1307	अभयतिलक
23			सप्तक्षेत्री रास	1327	अज्ञात (?)
24			शान्तिनाथ देव रास	1312	लक्ष्मीतिलक
25			शालिभद्र मुनिवर रास	1330	राजतिलक मणि
26			जिनेश्वरसूरि विवाह वर्णन	1331के बाद	सोममूर्ति
27			आरद्त रास	1338	विनयचंद सूरि
28			कच्छूली रास	1363केआसपास	प्रज्ञातिलकसूरि शिष्य
29			वोस परिमान रास	1368	वच्छिग
30			श्रावक विधि रास	1371	गुणाकर सूरि
31			समरा रास	1371आसपास	अम्बदेव सूरि
32			जिनचंद सूरि वर्णन रास	1371लगभग	लखमसीह श्रावक
33			जिनकुशलसूरि पट्टाभिषेक रास	1377 के लगभग	धर्मकलश
34			मयणरेहा रास	1380 आसपास	रयणु (?)
35			जिनपद्मसूरि पट्टाभिषेक रास	1390 आसपास	सारमूर्ति
36		चतुष्पदिका या चउपई	नेमिनाथ चतुष्पदिका	1325	विनयचंद सूरि
37			चतुर्विंशतिजिन चतुष्पदिका	1400 के पूर्व	मोद मंदिर
38	14वीं शताब्दी		सम्यक्त्वमाइ चउपई	1331 के पहले	जगडू
39			पद्मावती देवी चौपई	1380के आसपास	जिनप्रभ सूरि
40		सन्धि	आनंदप्रथमोपासक संधि	1353 के पूर्व	विनयचंद सूरि
41		छप्पय	उपदेशमाला कथानक छप्पय	1400के आसपास	उदय धर्म
42		फाग	नेमिनाथ फागु	1357के लगभग	पद्म
43			स्थूलिभद्र फागु	1390	जिनपद्म सूरि
44			नेमिनाथ फागु	1340 के पूर्व	समुधुर

1	2	3	4	5	6
5			थूलिभद्र फागु	1340 के पूर्व	राजवल्लभ
6		चच्चरी	जिनप्रबोध सूरि चच्चरी	1331 के बाद	सोममूर्ति
7			चाचरी	1331 के आसपास	जिनेश्वर सूरि
8			जिनचंद्र सूरिसच्चरी	1400 के पूर्व	हेम भूषण
9			चर्चरिका	1400 के आसपास	सोलण

विभिन्न विद्वानों द्वारा जैन साहित्य के रचयिताओं की जो सूची प्रस्तुत की गई है उनमें प्रायः वे सभी कवि सामान्य रूप से उद्धृत किए गए हैं जिनका उल्लेख डा० रामकुमार ने अपने इतिहास ग्रन्थ में दिया है। किन्तु कुछ कवि ऐसे भी हैं जिनकी रचनाएँ और जिनका योगदान जैन साहित्य के लिए विशेष महत्व का है, किन्तु डा० वर्मा ने जिन्हें कारणों से उन्हें अपनी सूची में स्थान नहीं दिया है। मैं समझती हूँ कि डा० वर्मा की सूची में कुछ कवियों का परिवर्द्धन आवश्यक है। इस प्रकार प्रमुख जैन कवियों के रूप में जिनका नामोल्लेख किया जाना उचित है उनमें स्वयम्भु देव, देवसेन, पुष्पदन्त, धनपाल, मुनि रामसिंह, अभयदेव सूरि, चन्द्रमुनि, कनकामर मुनि, जिनवल्लभ सूरि, जिनदत्त सूरि, आचार्य हेमचन्द्र, हरिभद्र सूरि, शालिभद्र सूरि, सोमप्रभ सूरि, जिनपद्म सूरि, विनयचन्द्र सूरि, धर्मसूरि, विजयसेन सूरि, मेरुतुंगाचार्य, धर्मदेव सूरि, राजशेखर सूरि, अभयतिलक, जिनप्रभ सूरि, रइधू, अभयपाल, जिनभद्र सूरि, सुमतिगणि, सोम मूर्ति, तिलोचन, राजेश्वर सूरि, उद्द्योतन सूरि, नरसेन, जज्जल, बब्बर, दामोदर, योगीन्द्र, पदम कीर्ति, नयनन्दिन, पुष्प भद्र आदि प्रमुख हैं।

जहाँ तक जैन काव्य अथवा जैन साहित्य की कृतियों का सम्बन्ध है वे चरित, प्रबन्ध, कथा, गीत, स्तोत्र और मुक्तक के रूप में पर्याप्त मात्रा में पायी जाती हैं। इनमें स्वयम्भु देव का पउम चरिउ तथा हरिवंश पुराण, देवसेन कृत सावयधम्म दोहा, दर्शन सार, श्रावक धर्म दोहा तथा भावसंग्रह, पुष्पदन्त रचित महापुराण, जसहर चरिउ, णयकुमार चरिउ, आदिनाथ फागु तथा नागकुमार चरित, रामसिंह का पाहुड़ दोहा, धनपाल कृत भविसयत्त कहा, सत्यपुरीय महावीर उत्साह, कनकामर मुनि का करकंड चरिउ, जिनवल्लभ सूरि का वृद्ध नवकार तथा नवकार महात्म्य, जिनदत्त सूरि कृत चाचरि, उवएसर सायणु, कालस्वरूप कुलक, जिनपद्म

सूरि कृत - थूलिभद्र फाग, थूलि भद्र रास, और थूल भद्र फाग, विनय चंदसूरि कृत नेमिनाथ चतुष्पदि, पार्श्वनाथ चरित्र, बाहुत रास तथा आनन्दप्रथमोपासकसन्धि, अभय देव सूरि का काव्य जयन्त विजय, धर्म सूरि का जम्बू स्वामी रास, विजयसेन सूरि का रेवतगिरि रास, सुमतिगणि का नेमिरास, गजाधर शार्धशतक वृहद्वृत्ति और नेमिनाथ रास, अभयतिलक का महावीर रास, सोममूर्ति का जिनेश्वर सूरि दीक्षा विवाह वर्णन रास, जिनप्रबोध चर्चरि, जज्जल का हमीर प्रशंसा काव्य, मेरु तुंगाचार्य का प्रबन्ध चिन्तामणि संग्रह, राजशेखर सूरि का नेमिनाथफागु, अम्बदेव सूरि कासभरा रास और संघपति समरा रास, जिनप्रभ सूरि का पद्मावती चोपाई, अनाथ सन्धि, अंतरंग रास, अंतरंग विवाह, आत्म संबोधन कुलक, चर्चरी, चैत्य परिपाटी, जिन जन्म मह, जिन महिमा, धर्माधर्म कुलक, धर्माधर्म विचार, नेमिनाथ जन्माभिषेक, नेमिनाथ रास, पार्श्वनाथ जन्माभिषेक, भव्य कुटुम्ब, भव्य चरित्र, भावानुकूल, मल्लिनाथ चरित, मुनि सुव्रत स्वामिस्तोत्र, मोहराज विजय, युगादिजिन - चरित्र - कुलक, व्रज स्वामि चरित्र, विवेक कुलक, श्रावक विधि, श्रीपाल चरित्र तथा ज्ञान प्रकाश कुलक, राजशेखर सूरि का प्रबन्ध कोष तथा नेमिनाथ फागु, रइधू का आदि पुराण (मेघेश्वर चरित), करकंड चरिउ, धन्यकुमार चरिउ, दश लक्षण जयमाला, पद्म पुराण, पार्श्व नाथ पुराण, प्रद्युम्न चरित्र, भद्रबाहु चरित, वर्धमान चरित्र, सन्मति जिन चरित, तथा हरिवंश पुराण, सोमप्रभ सूरि का कुमार पाल प्रतिबोध, उद्योतन सूरि की कुवलयमाला, दामोदर का चन्द्रप्रभ चरित और नेमिनाथ चरित, नरसेन का जिनरात्रि कथा, जीवानुशास्ति सन्धि और श्रीपाल चरित्र, योगीन्द्र का परमात्म प्रकाश और योगसार, पद्मकीर्ति का पार्श्वनाथ पुराण, शालिभद्र सूरि का बाहुबलि रास तथा भरतेश्वर बाहु बलि रास, पुष्प भद्र का सुकुमाल चरित, नयनन्दि का सुदर्शन-चरित, सकलविधि निधान काव्य, जिनभद्र सूरि का कुमारिल कुलक तथा हेमचन्द्र का कुमारपाल चरित, श्रीधर का पासणाह चरिउ (पार्श्वनाथ चरित), सुकुमाल चरिउ तथा भविसयत्त चरित (भविष्यदत्त चरित) आदि जैन साहित्य की प्रमुख रचनाएं हैं।

काव्य रूप एवं शैली की दृष्टि से यह समस्त रचनाएं चरित, रास, चर्चरी, फाग, प्रकाश, प्रबोध, कोश, विजय, कुलक आदि शब्दान्त हैं कवि की विषय विवेचन गत दृष्टि की व्यंजना करती हैं। इन रचनाओं में जैनाचार्यों, तीर्थंकरों, जैन सन्तों और शलाका पुरुषों के जीवनवृत्त से सम्बद्ध धार्मिक एवं देशोत्कर्षक कार्यों का ही वर्णन किया गया है। कुछ कृतियाँ ऐसी भी हैं जिनमें नीति, धर्म, और आचार और

शिक्षा दी गयी है । किन्तु चरित और रास संज्ञक रचनाओं में हो विवेच्य विषय अर्थात् प्रशस्ति के स्वाधिक रूपों का दर्शन होता है ।

(ख) सिद्ध कवि एवं काव्य :

वैदिक धर्म के विरुद्ध विद्रोह करने वाला बौद्ध धर्म काल की प्रताड़ना से और समकालीन वैचारिक प्रतिक्रिया से प्रभावित होकर साधना की नूतन सरणियों में ढल चला । ईश्वर और दुःख से दूर रह कर मोक्ष कामी बौद्धों ने महायान और हीनयान के दो शिविरों में विभक्त होकर सिद्धान्त और व्यावहारिकता के नये संबंध संस्थापित किए । गुप्त वंशीय 'परम भागवत' राजाओं ने बौद्ध धर्म की गतिविधि में व्यतिक्रम उपस्थित किया । दैवात् इसी बीच आठवीं शती में भट्ट कुमारिल और आचार्य शंकर ने वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना के प्रभावी प्रयास में बौद्धों के महायान के व्यावहारिक पक्ष को अपने ज्ञान काण्ड से जोड़ दिया । शंकर की धार्मिक विजय ने बौद्ध धर्म को सदा सर्वदा के लिए प्रयाण प्रदान कर दिया, किन्तु बौद्ध धर्म के अवशिष्ट पक्षधर जो भारत में रह गए उन्हें शंकर के वैदिक मत के साथ विवश होकर समझौता करना पड़ा । इस धार्मिक अनुबन्ध के परिणामस्वरूप शांकर या शैव मत को स्वान्तरित करते हुए इन बौद्धों ने हठयोग तन्त्र-मन्त्र और अभिचार आदि को आचरणीय बनाया । फलतः सरलतम बौद्ध धर्म तन्त्र साधना, मन्त्र मोहन, डाकिनी-शाकिनी की सिद्धि में लिप्त हो उठा । मन्त्रयान की प्रवृत्ति प्रबल हो उठी । वामाचार की साधना पद्धतियां तन्त्रों और मन्त्रों द्वारा सिद्धि प्राप्त करने वाले इन बौद्ध संतों को सिद्ध कहा गया । इन बौद्धों का मत शंकर के शैव मत से विपरीत पड़ता था । मन्त्र साधना के प्रसिद्ध आचार्य नागार्जुन ने वह बीज बोया जिससे 'भैरवी चक्र' ने सदाचार का तिरस्कार प्रारम्भ कर दिया । यहीं से मन्त्रयान वज्रयान में परिवर्तित होकर सामने आया और बौद्ध धर्म की इस विकृत परम्परा का प्रचार-प्रसार बंगाल, बिहार, उड़ीसा जैसे पूर्वी भारत में होने लगा । इस परम्परा के साधक सिद्धों की संख्या का निर्देश करते हुए राहुल सांकृत्यायन ने चौरासी नामों का उल्लेख किया है । इन सिद्धों में डोम और चिड़ीमार से लेकर ब्राह्मण, वैश्य और राजकुमार तक दीक्षित थे । इस ब्यौरे के विस्तार में न जाकर देखना यह है कि सिद्धों द्वारा प्रणीत कितनी रचनाएँ सामने आईं और उनके रचयिता कौन-कौन सिद्ध थे ।

डा० रामकुमार वर्मा ने काव्य रचना में समर्थ कुल चौदह सिद्धों के

नाम उद्धृत किए हैं[1],—

1-	सरहपा	(सं० 817)	सिद्ध 6
2-	शबरपा	(सं० 837)	" 5
3-	भुसुकुपा	(सं० 857)	" 41
4-	लुइपा	(सं० 887)	" 1
5-	विरूपा	(सं० 887)	" 3
6-	डोम्भिपा	(सं० 897)	" 4
7-	दारिकपा	(सं० 897)	" 77
8-	गुण्डरीपा	(सं० 897)	" 55
9-	कुक्कुरिपा	(सं० 897)	" 34
10-	कमरिपा	(सं० 897)	" 45
11-	कण्हपा	(सं० 897)	" 17
12-	गोरक्षपा	(सं० 902)	" 9
13-	तिलोपा	(सं० 1007)	" 22
14-	शान्तिपा	(सं० 1057)	" 12

डा० खण्डेलवाल ने इन सिद्धों का प्रसार बिहार से आसाम तक मानते हुए इन्हें देश भाषा का कवि बताया है और इनकी रचनाओं में रहस्य तथा योग की प्रवृत्तियों की प्रधानता स्वीकारी है। महामहोपाध्याय पंडित हरिप्रसाद शास्त्री ने इन सिद्धों की रचनाओं का एक संग्रह 'बौद्ध गान औ दोहा' के नाम से बंगाक्षरों में प्रकाशित किया है। राहुल सांकृत्यायन ने 'हिन्दी काव्य धारा' में इन सिद्धों की रचनाओं को संकलित और प्रकाशित करते हुए सरहपा को सर्वाधिक प्राचीन सिद्ध और कवि माना है। डा० खण्डेलवाल ने जिन सिद्ध कवियों के नामोल्लेख किए हैं वे रामकुमार जी की सूची से यथावत मिल जाते हैं।

आचार्य शुक्ल ने इन सिद्धों की साहित्य साधना पर प्रकाश डालते हुए जो वक्तव्य दिया है उससे उनकी कृतियों के नाम भले न उजागर होते हों किन्तु इनका विषय पूरी तौर से स्पष्ट हो जाता है। उनके अनुसार — 'बौद्ध धर्म ने जब तान्त्रिक

1- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : पृष्ठ 74

का संकलन 'हिन्दी काव्य धारा' नाम से प्रस्तुत किया है । यद्यपि इस संग्रह में जैन कवियों की रचनाएं भी संकलित हैं तो भी प्रधानता सिद्ध कवियों की ही है । इस संकलन की सर्वाधिक उपयोगिता इस लिए भी है कि इसमें सिद्धों की रचनाओं का निकटतम हिन्दी रूपान्तर देकर राहुल जी ने इसे सुबोध बना दिया है । इन चारों विद्वानों के अध्ययन से निकाले गए निष्कर्ष इस बात को प्रमाणित करते हैं कि हिन्दी काव्य के प्रारम्भिक रूप की रचना नालन्दा और विक्रम शिला के सिद्धों द्वारा बोद्ध धर्म के वज्रयान तत्व के प्रचार हेतु हुई थी । इनकी रचनाओं की भाषा मागधी अपभ्रंश से विकसित मगही है । डा० काशीप्रसाद जायसवाल नेइसे सन्ध्या भाषा का नाम दिया है ।[1] जन भाषा में लिखी गयी इन सिद्धों की कृतियों को साहित्य के क्षेत्र में बड़ी रुचि के साथ नहीं देखा गया इसलिए इनका साहित्य के क्षेत्र में प्रचलन नहीं हो पाया ।

सिद्ध कवि :- चौरासी सिद्ध साहित्यकारों में से प्रथम और अधिक लोकप्रिय सिद्ध सरहपा ने बत्तीस ग्रन्थ लिखे थे । जीवन के स्वाभाविक भोगों और वज्रयान के सहज अभिचारों के अतिरिक्त उन्होंने सदाचार पर भी जोर दिया है, उनके काव्य में सहज संयम, पाखण्ड और आडम्बर का खण्डन, गुरुसेवा, सहज मार्ग तथा महासुख की प्राप्ति को विषय के रूप में ग्रहण किया गया । सिद्ध शबरपा सरहपाद के शिष्य और लुईपाद के गुरु थे । ये 'चर्यापद' के रचयिता थे जिसमें रहस्य भावना और महासुख की चर्चा की गयी है । सिद्ध भुसुकपा की रचनाओं में तन्त्र और रहस्योन्मुखता पाई जाती है । भुसुकपा नालन्दा नरेश देवपाल के समकालीन थे । उड़ीसा के राजा दारिकपा और उनके मन्त्री डेंगीपा को सिद्ध सम्प्रदाय में दीक्षित करने वाले सिद्ध लुईपा की रचनाएं रहस्यवादी विचारधाराओं से परिपूर्ण हैं । सिद्ध विरूपा यायावरी वृत्ति के व्यक्ति थे । यह कण्हपा और डोम्भिपा के गुरु थे । इनकी रचनाओं में तन्त्र-साधना और वज्रयान के सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है । विरूपा के शिष्य डोम्भिपा की रचनाओं में भी रहस्यवादी भावनाओं का ही पुट है । सिद्ध दारिकपा सिद्धि प्राप्ति के लिए बहुत दिन तक कांचीपुरी में गणिका की सेवा में रत रहे । इन्होंने अपनी रचनाओं में महासुख के प्रति विश्वास व्यक्त करते हुए रहस्योन्मुख भाव व्यक्त किए हैं । सिद्ध गुण्डरीपा के काव्य का विषय वज्रयान के अभिचारों का वर्णन करना था । कुक्कुरीपा जो कपिलवस्तु के निवासी थे, अपनी कृतियों में सिद्ध-साधना के सिद्धान्तों

1- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : पृ० 76-77

का ही विवेचन करते रहे । कमरिपा प्रज्ञा पारमिता नामक सिद्धों की देवी के उपासक थे । ये उड़ीसा में बौद्ध धर्म का प्रचार करते रहे और रचनाओं में तन्त्र साधना का वर्णन भी । सिद्ध परम्परा में कण्हपा को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध और बहुत बड़ा विद्वान माना गया है । ये बिहारवासी थे । रहस्यात्मक भावनाओं से परिपूर्ण इनके द्वारा लिखे गए चर्यागीत सिद्ध साधना में बहुत सुख्यात हैं । 'इन्होंने अपनी कृतियों में शास्त्रीय रूढ़ियों का पूरा निर्वाह किया है । नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक सिद्ध गोरक्षपा ने प्राचीन' परम्पराओं में संशोधन करते हुए नूतन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है । इनका लोक प्रिय नाम गोरखनाथ है । जीवन की सहज गति में विश्वास करने वाले तथा सहज मार्ग के प्रसिद्ध पण्डित तिलोपा राजवंशी थे । इनकी रचनाएँ सहज मार्ग की भावनाओं से विभूषित हैं । सिद्ध शान्तिपा भी पर्यटनशील सिद्ध थे । ज्ञान के प्रति उनमें बड़ी उत्सुकता थी । ये बहुत बड़े विद्वान थे इसलिए इन्हें कलिकाल सर्वज्ञ भी कहा जाता था । इनकी कृतियों में सिद्ध सम्प्रदाय का सैद्धान्तिक स्वरूप चिन्तन की पूरी गहराई के साथ निरूपित हुआ है । संक्षेपतः सिद्ध कवियों का यही परिचय है ।

डा० भारती ने सिद्धों की रचनाओं को सामान्य जन के लिए ग्राह्य न मानते हुए मात्र गुरुओं की सम्पदा स्वीकार की है । उन्होंने सिद्ध शब्दावली की दार्शनिक व्याख्या करते हुए इसमें भोगवाद के स्वर को गौण और आध्यात्मिक चिन्तन को प्रधान माना है । किन्तु डा० शिवकुमार शर्मा का विचार है कि 'सिद्धों का तथा-कथित रहस्यवादी साहित्य किसी भी कारण अलौकिक प्रेम का काव्य नहीं कहा जा सकता । सिद्ध साहित्य में गहन रहस्यात्मक अनुभूतियों की खोज समस्त तान्त्रिक धारा के प्रवाह को प्रतीपो दिशा में मोड़ने के अनावश्यक प्रयत्न के सिवाय और कुछ भी नहीं है । कभी ऐसा अवश्य था जबकि समस्त सिद्ध साधना और तत्कालीन समाज अश्लीलता और कामुकता के प्रवाह में बहता चला था । यही कारण है कि इस बढ़ती विलासिता का प्रतिवाद गोरखनाथ को करना पड़ा ।'[1]

(त) सिद्ध साहित्य का वर्गीकरण :-

सिद्धों के समस्त साहित्य का विषयगत विश्लेषण करने से जो परिणाम सामने आये हैं उनके आधार पर विद्वानों ने समस्त सिद्ध साहित्य को तीन वर्गों

1- हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियां : पृ० 25 (संस्करण 6)

में विभाजित किया है —

(अ) नीति तथा आचार मय साहित्य

(ब) उपदेशात्मक साहित्य

(स) साधनात्मक अथवा रहस्यवादी साहित्य ।

इस त्रिधारा के अतिरिक्त सिद्धों द्वारा रचित कतिपय फुटकर रचनाओं में प्रासंगिक रूप से शास्त्रीय विषयों का भी प्रतिपादन किया गया है । इनकी कृतियों में साधक और डोम्बी एवं शबरी के चित्रण आश्रय और आलम्बन रूप में किए गए हैं । गुरुओं से दूतत्व कराया गया है । कापालिका आदि नायिकाएं स्वकीया, परकीया, सामान्या, प्रौढ़ा, मुग्धा, मध्या एवं अभिसारिका के रूप में प्रस्तुत की गयी हैं । उद्दीपन विभाव के रूप में नायिका की सुन्दरता और प्रकृति को स्वीकार किया गया है । सिद्ध काव्य में प्रमुख पद्धति और काव्यों की मूल धारा रहस्यमयी ही है । किन्तु जैन मुनियों की तरह सिद्धों ने भी शास्त्र ज्ञान, मन्त्र, मन्दिर, तीर्थाटन आदि बाह्याचारों का खण्डन किया है । अपने संस्कार के अनुकूल इस खण्डन कार्य में जैन मुनियों का स्वर जहां अदृश्य दबा-दबा सा रहता है कि सरह और कण्ह आदि सिद्ध कवि अत्यन्त उग्र दिखाई पड़ते हैं । इन्होंने बड़े ही लट्ठमार ढंग से अपनी बातें कही हैं ।[1]

सिद्ध काव्य का स्वर जैन कवियों के समान साधना मूलक था । लौकिक सुख के स्थान पर अलौकिक आनन्द की उपलब्धि का मोह रखने वाले इन सिद्ध कवियों ने देवी कोटि की प्रशस्ति भावनाओं को जो प्रश्रय दिया हो है साथ ही वामाचार की पद्धति से प्रभावित होने के नाते लौकिक सुलभ जीवन के आख्यान भी प्रस्तुत किए हैं । परन्तु कुल मिलाकर गुरुओं और सिद्धों, सिद्ध-सिद्धान्तों के निरूपण पर विशेष बल देने वाली इस काव्य धारा में प्रशस्ति भावना के विचार से देवी कोटि की कविताएं ही अधिक हैं । हां, हेमचन्द्र जैसे कवि इस साधना धारा में जरूर ऐसे थे जिनमें डिंगल की वीरगाथाओं से मिलती-जुलती प्रशस्ति पूर्ण व्यंजनाएं पाई जाती हैं । साधनामूलक इस काव्यधारा में जैन पण्डितों, मुनियों और बौद्ध सिद्धों के धार्मिक साहित्य के बीच लौकिक जीवन को लेकर लिखी हुई वीर और श्रृंगार की ललित रचनाएं भी मिलती हैं । हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में संकलित रचनाओं का अधिकांश ऐसा ही है । x x x

---

1- डा० नामवर सिंह : हिन्दी के विकास में 'अपभ्रंश का योग : पृ० 227

जैन मुनियों की आचार प्रधान सूक्तियों के बीच उत्साह और दर्प से भरे हुए इस काव्य को देखकर साफ मालूम होता है कि यह आभीर, गोप, गुर्जर आदि युद्ध प्रिय जातियों का उन्मुक्त हृदयोद्गार है । युद्धों का वर्णन तो अपभ्रंश के अनेक चरित काव्यों और पुराणों में भी मिलता है, लेकिन उनमें हाथियों की चिंघाड़, घोड़ों के टाप की आवाज और शस्त्रों के नाम की लम्बी सूची ही अधिक मिलती, सच्चे वीर हृदय का उत्साह वहाँ कहाँ ? यदि ऐसा शौर्य देखना हो तो हेम व्याकरण के इन उदाहरणों को देखें । यहाँ पुरुष का पौरुष ही नहीं, उनके पार्श्व में वीर रमणी का दर्प भरा प्रोत्साहन भी मिलेगा – यदि एक ओर शिव का ताण्डव है तो दूसरी ओर उनके पार्श्व में शक्ति का लास्य भी है ।[1]

(ख) <u>नाथ कवि और काव्य :-</u>

नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोरक्षनाथ या गोरक्षपा प्रथमतः सिद्ध सन्त ही थे । सिद्ध साधना के दोषों से ही, इसके प्रतिकार से अब पर नाथ साधना का आविर्भाव हुआ । गोरखनाथ ने सिद्ध साधना पद्धति में उत्पन्न विकृतियों को दूर करते हुए नाथ सम्प्रदाय के नाम से नये पन्थ का प्रवर्तन किया था । हिन्दी साहित्य के आदिकालीन काव्य की नाथ पंथी धारा का विश्लेषण करने से मात्र छः नाथ कवियों का काव्यगत योगदान स्वीकार किया गया है । यह भी उल्लेखनीय है कि इन्हीं नाथों से आगे चलकर हिन्दी की उस सन्त काव्य की परम्परा का प्रवर्तन हुआ जिसके पुरोधा कबीर थे । जो भी हो नाथ कवियों के रूप में निम्न छः नाथों का नामोल्लेख किया गया है ।[2]

1- गोरखनाथ
2- चौरंगीनाथ
3- गोपीचन्द
4- चुणकर नाथ
5- भर्तृहरि नाथ
6- जालन्ध्री पाद

1- डा० नामवर सिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग : पृ० 229-30
2- हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (ना०प्र०स० संस्करण) : पृ० 407

समस्त नाथपंथी साहित्य साधनात्मक प्रसंगों की अवतारण से परिपूर्ण है । नाथ पंथ के प्रवर्तक गोरखनाथ की बानियों का प्रामाणिक संकलन डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने सम्पादित किया है तथा सं० 1999 में उसका प्रकाशन हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने किया है । इस संकलन में गुरु गोरखनाथ के नाम से चालीस छोटी मोटी रचनाओं की सूची दी गयी है । इन चालीस में से प्रथम तेरह कृतियां असंदिग्ध और शेष सत्ताईस संदिग्ध हैं । डा० कोमल सिंह सोलंकी ने इनकी सूची निम्नवत् दी है। –

1-	सबदी	2-	पद
3-	सिष्यादरसन	4-	प्राणसंकली
5-	नरवै बोध	6-	आत्मबोध
7-	अभैमात्रा जोग	8-	पन्द्रह तिथि
9-	सप्तवार	10-	मछींद्र गोरखबोध
11-	रोमावली	12-	ग्यान तिलक
13-	पंचमात्रा	14-	ग्यान चौतीसा
15-	गोरख गणेश गोष्ठी	16-	गोरखदत्त गोष्ठी
17-	महादेव गोरख गुष्टि	18-	सिष्ट पुरान
19-	दया बोध	20-	जाती भौंरावली
21-	नवग्रह	22-	नवरात्र
23-	अष्ट पारछ्या	24-	रहरास
25-	ग्यानमाला	26-	आत्माबोध
27-	व्रत	28-	निरंजन पुराण
29-	गोरखवचन	30-	इन्द्री देवता
31-	मूलगर्भावली	32-	खाणी वाणी
33-	गोरखसत	34-	अष्टमुद्रा
35-	चौबीस सिधि	36-	षडक्षरी
37-	पंचअग्नि	38-	अष्टचक्र
39-	अवलि सिलूक	40-	काफिर बोध

1- नाथ पंथ और निर्गुण सन्त काव्य : पृ० - 40

ऐतिहासिक विकास की परम्परा की अन्तर्वर्ती चेतना का जो रूप बौद्ध धर्म के ढांचे में ढलकर तैयार हुआ था वही महायान से वज्रयान, वज्रयान से सहजयान और सहजयान से नाथ सम्प्रदाय के रूप में विकसित होता हुआ भारतीय भूमि पर आदिकालीन धर्म चेतना के रूप में चौदहवीं शती तक प्रसरित होता रहा । भौगोलिक दृष्टि से नाथ सम्प्रदाय का प्रसार सिद्धों से भी अधिक व्यापक था । गुजरात, काठियावाड़, राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, बंगाल और उत्तर प्रदेश के प्रमुख स्थानों में नाथों के पीठ एवं उनकी गुरुपरम्परा प्रतिष्ठित और प्रवर्तित होती रही । किन्तु इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक गोरखनाथ ने गोरखपुर को ही अपना प्रमुख साधना केन्द्र बनाया । गोरख सिद्ध सम्प्रदाय के बहुचर्चित और बहुमान्य व्यक्ति थे । वज्रयान की सहज उपासना के मूलाधार पर वृत्तिता और धर्मनिष्ठा की पूरी उन्मुक्ति के साथ गोरख ने जिस नव्य धर्म सम्प्रदाय की परिकल्पना की उसका ही नाम नाथ सम्प्रदाय पड़ा था । अपने सम्प्रदाय को सैद्धान्तिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिए गोरख ने जिन चालीस ग्रन्थों का प्रणयन किया था उन्हें उदाहृत किया जा चुका है । यह भी सत्य है कि इन सभी कृतियों को गोरखनाथ द्वारा लिखित मानने में विद्वान एकमत नहीं है ।[1] डा० बड़थ्वाल ने प्रथम तेरह ग्रन्थों को प्रामाणिक मानते हुए प्रथम -'सबदी' को सर्वाधिक प्रामाणिक रचना माना है, किन्तु नाथ पंथी योगियों के बीच में सबद्यान्त और आदा ग्रन्थ के रूप में जितनी लोकप्रियता गोरख प्रबोध को मिली है, उतनी उनकी अन्य रचनाओं को नहीं मिल पायी है । डा० रामकुमार इस गोरख बानी में संकलित रचनाओं के बीच 'अभय मात्रा योग' को छोड़कर शेष बारह को प्रामाणिक मानते हैं ।[2]

नाथ सम्प्रदाय की साहित्यिक देन के रूप में दूसरी पुस्तक 'नाथ-सिद्धों की बानियाँ' नाम से नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सं० 2014 वि० में प्रकाशित हुई है । इसका सम्पादन डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया है । विभिन्न नाथ सन्तों की कृतियों के उदाहरण इस पुस्तक में सुलभ हैं । इस संकलन में पचीस नाथ पंथी योगियों की बानियाँ पाई जाती हैं, जिनके नाम निम्नवत् हैं :-

1- अजयपाल जी	2- कणेरी (सती, पाव)
3- गरीब जी	4- गोपीचन्द्र जी

1- हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : पृ० - 407

2- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : पृ० 110

5-	पीड़ाचौली	6-	चरपटनाथ
7-	चौरंगी नाथ	8-	चौणकिनाथ (कुणकर नाथ)
9-	जलन्ध्रीपाव	10-	दत्त जी (दत्तात्रेय)
11-	देवल जी	12-	धूंधलीमल जी
13-	नागार्जन जी	14-	पार्वती जी
15-	पृथ्वीनाथ जी	16-	बालानाथ जी
17-	बाल गुन्दाई	18-	भरथरी
19-	मच्छेन्द्र नाथ जी	20-	महादेव जी
21-	रामचन्द्र जी	22-	लखमण जी
23-	सतवैती जी	24-	सुकुलहंस जी
25-	हणवंत जी		

इस ग्रन्थ में संकलित बानियों का रचनाकाल ईसा की चौदहवीं शती के पूर्व का ही माना जा सकता है । कुछ रचनाएँ चौदहवीं शती और उसके बाद की भी हैं ।[1]

नाथ साहित्य के नाम पर जिन कवियों और काव्यों का उल्लेख किया गया है, इनमें प्रदेय और प्रभाव के विचार से गोरख ही सबसे अधिक महनीय हैं । फिर भी नाथ सम्प्रदायकी कविता में केवल गोरखनाथ की कविता का ही अधिक मूल्य है । गोरखनाथ की कविता में योगी सम्प्रदाय के चिन्तन का एक उत्कर्ष है । उनके पूर्ववर्ती कवियों के विचारों का प्रतिबिम्ब उनमें स्पष्ट है, किन्तु नाथ सम्प्रदाय की समग्र कविता एक व्यक्ति के नहीं अनेक व्यक्तियों के परिश्रम का फल है जो गोरखनाथ के आगे अपने व्यक्तित्व को नहीं उजागर कर सके और सम्प्रदाय के आचार्य के प्रभुत्व में उनको ऐसा विलीन होना पड़ा , यह कविता इसीलिए अधिक महत्वपूर्ण है । गोरखनाथ को अपने पूर्ववर्तियों का खण्डन करके अपने को उजागर करना पड़ा और परवर्ती शिष्यों ने गोरखनाथ की परम्परा में पहुँचा दिया, इसमें उन्हें अनेक पंथियों से टक्कर लेनी पड़ी । खण्डन-मण्डन और मेल-मिलाप करते हुए लोग अपने पंथ को फैलाने के प्रयत्न में लगे रहे । इन शिष्यों ने ही गोरख के पश्चात् कबीर के अभ्युदय तक मठो, मन्दिरों,

---

1- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ सिद्धों की बानियाँ (भूमिका) पृ0-25

अखाड़ों में नाथ सम्प्रदाय की परम्परा को अक्षुण बनाए रखा ।[1]

नाथ सम्प्रदाय के साहित्य में पाये जाने वाले किसी भी विषय का विवेचन करने से पहले इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि नाथ पंथ की काव्य धारा अपभ्रंश साहित्य में बौद्ध सिद्धों की साहित्यिक परम्परा के विकास का परिणाम है इसलिए धर्म-साधना का यह काव्य सम्मत आन्दोलन विवेच्य विषय की दृष्टि से सिद्धों की ही परम्परा से, यदि समता रखते हुए दिखलाई पड़े तो कोई आश्चर्य नहीं । प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में आदिकालीन काव्य में उपलब्ध प्रशस्ति के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए यह देखने की चौकसी रखनी पड़ेगी कि जैन, सिद्ध और नाथ तीनों साधना सम्प्रदाय मूलतः अलौकिक आलम्बन के प्रति आकृष्ट थे । ऐसी स्थिति में कथन पद्धति का अन्तर होते हुए भी, किसी न किसी स्तर पर कथ्य के विचार से एकरूपता सम्भावित ही है ।

(ब) वीर काव्य :-

आदिकालीन हिन्दी का वीर काव्य इतिहास की कुक्षि से जन्मने वाली एक विशिष्ट संस्कृति का परिणाम है । मिथ्या स्वाभिमान और विलासिता के नाम पर टूट रही राजपूत जाति खण्ड-खण्ड में बंटकर भी अपनी क्षेत्रीय सत्ता को केन्द्रित कर रही थी । देश पर मुसलमानों के आक्रमण होने लगे थे । भारतीय संस्कृति राजपूती आन के आवरण में बचाये रखने के लिए राजपूताना के चारणों, भाटों, मागधों ने राजदरबारों में प्रवेश लेकर एक राजन्य वर्ग की सराहना का स्वर अलापना शुरू कर दिया । कन्नौज, महोबा, अजमेर के दरबार उस समय ओज और पौरुष से युक्त काव्य परम्परा को सम्वर्धित करने के अनुकूल थे । राजपूताना के तो कण-कण में भोग और बलिदान को, श्रृंगार और वीरता की सनातन परम्पराएं जागृत हो रहीं । फलतः 1050 से लेकर चौदहवीं शती के अन्त तक राजस्थानी डिंगल भाषा में अव्यक्त जीवन्त काव्य की परम्परा जो असंख्य कृतियों के रूप में सामने आई, हिन्दी साहित्य को वीर काव्य की महान भेंट दे गयी । डिंगल साहित्य की पद्य परम्परा का अधुनातन अनुशीलन उपस्थित करने वाले डा० जगदीश श्रीवास्तव ने अपने शोध-प्रबन्ध में वीर काव्य सम्बन्धी प्रमुख ग्रन्थों की नामावली प्रस्तुत करते हुए निम्नकाव्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है[2]--

---

1- डा० रांगेय राघव : गोरखनाथ और उनका युग : संस्करण । : पृ०-229

2- डा० जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव : डिंगल साहित्य : संस्करण । : पृ० 171-77

1- वीरमायण (अप्र0) - बादरढाढ़ी - रचनाकाल सन् 1390 ई0
2- रणमल्लछंद (अप्र0) - श्रीधर - रचना काल सन् 1400 ई0
3- अचलदास खीची री वचनिका (अप्र0) - शिवदास - र0का0 सन् 1428 (डा0टेसीटरी)
सन् 1615ई (डा0रामकुमार)
4- रावजैतसी री छंद (प्रका0) - सूजा नागराजोत - र0का0 सन् 1534-41 के मध्य
5- राव जैतसी री छंद (अप्र0) - र0का0 सन् 1534 - 41 के मध्य
6- गुण रूपक (अप्र0) - केशवदास गाडणा
7- गुण भाषा चित्र (अप्र0)
8- झालां झालां रा कुंडलिया (प्रका0) - ईसरदास रोहड़िया - र0का0 सन् 1563
9- विरूद छिहत्तरी (प्रका0) - दुरसा जी आढा -
10- वचनिका राठौड़ रतन सिंह जी री महेसदासौतरी (प्रका0) - जगमल (जग्गा जी)
- खिड़िया - र0का0 सन् 1660ई0
11- रतनरासो (अप्र0) - कुंभकर्ण सादू - सन् 1675 ई0
12- वचनिका (अप्र0) - वृन्द - सन् 1705 ई0
13- सत्य स्वरूप (अप्र0) - वृन्द - सन् 1707 ई0
14- वरसलपुर गढ़ विजय (अप्र0) - मथेन जोगीदास - सन् 1712 ई0
15- राजरूपक (प्रका0) - वीरभाण रतनू - सन् 1730-32 ई0
16- सूरज प्रकाश (प्रका0) - करणीदान - सन् 1730 ई0 के पूर्व
17- सूर छत्तीसी (प्रका0) - बांकीदास आशिया - सन् 1790-1833 ई0 के मध्य
18- सीह छत्तीसी (प्रका0) - बांकीदास - सन् 1790 - 1833 के मध्य
19- वीर विनोद (प्रका0) - बांकीदास -
20- दातार बावनी (प्रका0) - बांकीदास -
21- वीर सतसई (अपूर्ण, प्रका0) - सूर्यमल्ल मिश्रण - सन् 1857 ई0
22- वीर सतसई (अप्र0) - मोड़जी खेयारिया - 20वीं शती ई0 के आरम्भ के आसपास
23- वीर सतसई (अप्र0) - नाथूदान खेयारिया - 20वीं शती ई0

डा0 श्रीवास्तव द्वारा प्रस्तुत की गयी सूची में डिंगल भाषा के जिन वीर काव्यों का उल्लेख किया है, उनमें अधिकांश चौदहवीं शती के परवर्ती काल की रचनाएं हैं। हमने यद्यपि चौदहवीं शती तक के काव्यों को ही आदिकाल की सीमा में स्वीकार किया है तथापि आदिकालीन प्रवृत्तियों को लेकर इस धारा को उत्थान और आगे बढ़

गई है तो इस शोध-प्रबन्ध में उन ग्रन्थों का प्रभाव ग्रहण कर लेना अध्ययन की समग्रता के विचार से अनुचित न होगा । डा० गणपतिचन्द गुप्त के वक्तव्य के अनुसार आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने आदिकालीन काव्य सामग्री की भाषिक संरचना के विचार से दो भागों में विभाजित करते हुए अपभ्रंश और देश्य भाषा की रचनाओं के रूप में बारह का उल्लेख किया है,[1] जिसका ब्यौरा नीचे दिया जा रहा है –

अपभ्रंश रचनाएं – विजयपाल रासो, हम्मीर रासो, कीर्तिलता और कीर्तिपताका ।
देश्यभाषा की रचनाएं – खुमानरासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, जयचन्द प्रकाश, जयमयंक जस चन्द्रिका, परमाल रासो (आल्ह खण्ड), खुसरो की पहेलियाँ और विद्यापति पदावली ।

सामन्तीय काव्य के विचार से विजयपाल रासो, हम्मीर रासो, कीर्तिलता और कीर्तिपताका तथा खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, जयचन्द्र प्रकाश, जयमयंक, जस चन्द्रिका, परमाल रासो, विद्यापति पदावली का ही नामोल्लेख किया जा सकता है । खुसरो की पहेलियां भी सामन्तीय काल की ही थीं पर उन्हें इस कोटि की रचनाओं से भिन्न रचना मानना पड़ता है ।

डा० गोविन्दराम शर्मा ने भी डा० गुप्त द्वारा उद्धृत इन्हीं बारह ग्रन्थों को वीरगाथाओं अथवा चारण कवियों की रचनाओं के रूप में स्वीकार किया है ।[2] डा० रामकुमार वर्मा ने आदिकाल की रचनाओं को अनिश्चित-निश्चित दो वर्गों में बांटा है ।[3] निश्चित रचनाओं के अन्तर्गत बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, हम्मीर काव्य, जयचन्द प्रकाश, जय मयंक जस चन्द्रिका, आल्ह खण्ड, हम्मीर रासो, विजयपाल रासो, जैतसी रासै पाबू जी रा छन्द, अचलदास खीची री वचनिका सिवदास री कही, माधवानल प्रबन्ध दोग्ध-न्ध, क्रिसन रुकमणी री वेल राज पृथ्वीराज री कही, सुन्दर सिंगार, रतनिधा रावर रतनसिंह जी री महेस दासौत री खिड़िया जगे री कही, सोढ़ नाथी री कविता, ढोला मारवणी-चउपदी, वरसल पुर गढ़ विजय, महाराजा गजसिंह जी री रूपक, ग्रन्थ राज गाडण गोपीनाथ री कहियो, महाराजा रतनसिंह जी री कविता

1- गणपतिचन्द गुप्त : आदिकाल की प्रामाणिक रचनाएं : संस्करण । : पृ0-4
2- हिन्दी साहित्य और उसकी प्रमुख प्रवृत्तियां : पृ0 - 34
3- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : पृ0 - 208 -

बोहू भीमो रो कही ।

इसके अतिरिक्त डा० रामकुमार वर्मा ने अठारह मुक्तक रचनाओं का भी उल्लेख किया है ।[1]

1- गुण जो धायण गाढ्ण पसाइत री कही
2- राव गागै रा छन्द डिन्मिये खेमे रा कहिया
3- सोढै भावाली रा छन्द
4- चाहवानाँ रा गीत
5- जस रत्नाकर (बीकानेर के राजा रत्नसिंह की विरुदावली)
6- ढोले मारु रा दूहा
7- माधव कामकन्दला चउपई
8- रुक्मणी हरण
9- बैताल पचीसी री कथा
10- दुदु ... (... दी और साहिबा की प्रेम-कथा)
11- सोने नै सीटरी झगड़ो
12- पन्द धरैलो ... कीरत री कही
13- फुटकर दूहा संग्रह
14- रायेहमीर पिण थम्भौर रे रा कवित्त
15- ऊमादे भाटियाणी रा कवित जार० आस रा कहिया
16- जलाल गहाणी री बात (जलाल और गहाणी की प्रेम-कथा)
17- गोरे बादल री बात
18- राव ... रा दूहा

डा० उदयनारायण तिवारी ने अपने वीर काव्य में चन्द, नरपति, मान आदि की ही आदिकालीन कवियों की परम्परा में उल्लिखित किया है । आदिकाल के जितने सामन्तीय काव्य लिखे गए हैं, वे प्रायः चारणों की ही कृतियाँ हैं । अब तक के अनुसन्धान के आधार पर यह स्वीकार किया गया है कि चारणों के 120 कुल थे । यह भी उल्लेखनीय है कि समस्त आदिकालीन सामन्तीय काव्य लिखने वाले चारण शाक्त

1- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : पृ० 265-66

होते थे । भगवती उनकी कुल देवी थीं । चारणों की कुल देवी करणी देवी है जिनका मन्दिर आज भी देसणोक (देसनोक) नामक ग्राम में बीकानेर के पास पाया जाता है । डा० तिवारी ने डिंगल साहित्य और साहित्यकार के विषय में जो मत प्रतिपादित किया है उसका उल्लेख कर देना भी आवश्यक है – 'डिंगल में लिखित साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है । इसके रचयिता चारण हैं, अतएव इसे चारण-काव्य भी कह सकते हैं । इसमें वीर, भक्ति, शृंगार, नीति आदि सभी प्रकार के काव्य-ग्रंथ प्राप्य हैं । पौराणिक कथाओं के आधार पर भी कई छोटे प्रबन्ध-काव्यों की रचना हुई है, जैसे सांयाझूलाकृत 'नागदमण', जोगीदान कृत 'ओखाहरण' (उषा-हरण) तथा बारहठ मुरारिदास कृत 'डिंगलव्यार,' जिसमें रुक्मणी-हरण का सरस-वर्णन है । कई चारण-कवियों ने तो ऐतिहासिक-इतिवृत्तों, या शूरवीर क्षत्रिय राजाओं तथा लोकवीरों की जीवन-गाथाओं पर भी प्रबन्ध-काव्यों की रचना की है जैसे सूजा नोठू कृत 'राव जैत सी रो छंद,' कविराजा करनी दानकृत 'सूरज प्रकाश', जिसमें जोधपुर महाराज अभयसिंह जी की युद्ध वीरता का वर्णन है, वीरभाण रतनू कृत 'राजरूपक', महाकवि सूर्यमल कृत 'वंश-भास्कर,' कोन्दाण नेवाखो ठाकुर केसरी सिंह बारहठ कृत 'प्रताप चरित', दुर्गादास (राठौड़) चरित्र, राजसिंह चरित्र तथा पाबूदान आशिया कृत 'पाबू चरित्र' । इन काव्य-ग्रंथों में वीर रस की अत्यन्त मार्मिक अभिव्यंजना हुई है ।

डिंगल के कवियों में महाराज 'प्रिथीराज' (पृथ्वीराज) आढ़ा दुरसा जी, बांकीदास तथा कविराजा सूर्यमल की बहुत प्रसिद्धि है ।[1]

इस अध्याय के प्रारम्भ में यह उल्लेख किया जा चुका है कि 'चारण काव्य का क्षेत्र राजस्थान था, किन्तु इसे भारतीय साहित्य की सर्वोत्तम रचनाओं में स्थान दे सकते हैं । वस्तुतः राजपूत भारतीय वीरता के प्रतीक थे और मध्य युग में राजस्थान वह दुर्ग था जिस में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के रक्षक निवास करते थे । यही कारण है कि मध्य युग में वीर राजपूतों ने स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर मर-मिटने में आनाकानी न की । ऐसे वीरों की उज्ज्वल कीर्ति राजस्थान के चारण काव्य ही में प्राप्य है ।'[2] आदिकालीन हिन्दी काव्य का संक्षेपतः जो विवरण प्रस्तुत किया गया है उसके आधार पर ही आगामी अध्याय में प्रशस्ति के स्वरूप का उभय कोटि के काव्यों

1- वीर काव्य : संकरण 3 : पृ0 45-46

2- वीर काव्य : संकरण 3 : पृ0 - 50

में अनुशीलन किया जायगा । इसी प्रसंग में यह भी देख लेना आवश्यक है कि इस काल के दोनों प्रकार की काव्यधाराओं को प्रेरित करने वाले कौन से उपादान एवं कौन सी प्रवृत्तियां थीं ।

उभयकोटि के काव्यों की प्रमुख प्रेरक प्रवृत्तियां

आदिकालीन काव्य की दोनों धाराएं, दो परिवेश एवं दो संकाय को लेकर प्रवृत्त हुई हैं । अतः इन उभय कोटि की धाराओं की प्रेरक प्रवृत्तियां भी भिन्न-भिन्न हैं । द्विविध विषय को आकार देने की परिस्थिति की संरचना करनेवाली प्रवृत्तियों को उनके परिप्रेक्ष्य में देखे-परखे बिना विषय का विश्लेषित रूप उपस्थित नहीं किया जा सकता । अतः आगे हम इन्हीं प्रवृत्तियों पर संक्षेपतः विचार करेंगे ।

पांचवीं - छठवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शती तक फैले हुए इस विशाल काव्य प्रसार को सभी दृष्टियों से विश्लेषित किया जा चुका है । साधनात्मक और सामन्तीय काव्य के स्वरूप, उसके रचनाकार, उनकी कृतियां और कृतियों में संभावित विषय के प्रति दर्जनों आभारी विद्वानों की जो प्रतिक्रियायें देखी गयीं उससे निष्कर्ष यही निकला कि मुख्य दो ही प्रवृत्तियां प्रेरक तत्व का काम कर रही थीं –

(अ) धार्मिक

(ब) सामन्तीय

जैन, सिद्ध और नाथ साहित्य की समूची काव्य सम्पदा साधना से ही सम्बद्ध है । यह बात और है कि इस काव्य की त्रिधारा में जिन दो धर्मों की तात्विक थी वह द्रवणशीलता, वैदिक धर्म के विपरीत जैन और बौद्ध धर्म के नास्तिकतावादी स्वर से प्रभावित थी । किन्तु इस साधनात्मक आन्दोलन का साध्य दैवी और अलौकिक ही था । जैनी सत्य, अहिंसा, प्रेम, क्षमा आदि को, जिन्हें हम सहज मानवीय संवेदना कहते हैं, प्रश्रय देते थे । सिद्धों और नाथों में सहज सुख, महासुख, जैसी आनन्दवादी वामाचार की उपासना पद्धतियां भी अपने परिवेश में पूरी ईमानदारी के साथ धार्मिक ही रहीं । इसलिए जैन कवियों ने चर्यागीत, रास, पुराण आदि चाहे जो भी लिखा हो, उनकृतियों के बीच से उनके धर्म का मूल मोह ही झलकता है । सिद्धों ने नीति प्रधान, आचार प्रधान, उपदेश प्रधान और साधना प्रधान जितना भी साहित्य लिखा

है उस सब में सिद्धि की महिमा, उसकी प्राप्ति के उपाय, उसका स्वरूप, उसके गुरुओं का सश्रद्ध स्मरण आदि की ही लगातार चर्चाएँ की गयी हैं । नाथ काव्य में सिद्धों की साधनात्मक विसंगतियों को दूर करते हुए गोरखनाथ जैसे सिद्धों के ही द्वारा साधना के नूतन पंथों की परिकल्पना की गयी है । हठयोग पर आधारित साधना की यह सन्तमार्गी प्रवृत्ति सबदी, बोध, योग, गोष्ठी, चौंतीसा, तिलक चाहे जिस रूप में लिखी गयी हो, है वह सबकी सब धर्म प्राण ही । तीनों प्रकार की साधनात्मक काव्य धाराएँ अपने-अपने सम्प्रदाय की एकमात्र धार्मिकता से ही स्थापित हो रही थीं । सारांश यह कि आदिकालीन हिन्दी साहित्य की साधनात्मक काव्य धारा को प्रेरित करने वाली जो प्रमुख प्रवृत्तियाँ थीं उनमें निम्न विशेष परिगणनीय हैं —

(क) धर्म और सम्प्रदाय की व्याख्या ।
(ख) गुरु की महिमा का प्रतिपादन ।
(ग) आराध्य के महत्व की स्वीकृति ।
(घ) लौकिक सुख की निस्सारता का प्रतिपादन ।
(ङ) संयमाचरण की प्रतिष्ठा ।
(च) साकार से इन्द्रियातीत की ओर उन्मुखता ।

संक्षेपतः धार्मिक काव्य को प्रेरित करनेवाली ये ही प्रवृत्तियाँ थी जिनसे प्रभावित होकर जैनियों, सिद्धों और नाथों ने अपने साम्प्रदायिक काव्य का ढांचा तैयार किया है । यही कारण है कि काव्य के इस क्षेत्र में दिव्य शक्ति की समाराधना और दिव्य देवों का ही गुणगान पाया जाता है । विवेच्य विषय के विचार से देवी अथवा अलौकिक प्रशस्ति के विविध रूप के दर्शन की इस काव्य में पूरी संभावना है ।

आदिकाल की दूसरी काव्य-धारा सामन्तीय प्रवृत्तियों की है । इसके अन्तर्गत रचे गए समस्त सामन्तीय अथवा चारण - काव्य का प्रतिपाद्य वीर और श्रृंगार भाव के भोग का भोग रचने वाले तद्युगीन क्षत्रियों के जीवन से सम्बद्ध है । आश्रित कवियों द्वारा आश्रयदाता के दर्प, युद्धोन्माद, दरबार, रण-प्रयाण, सामयिक साज-सज्जा, अन्तःपुर के हास-विलास और रणांगन की लाश-हत्या के जो जीवन्त चित्र अंकित किए हैं, उनमें लौकिक नरेशों की यश, कीर्ति, दीप्ति, वीरता को ही विषय के रूप में प्रतिपादित किया गया है । इस काव्य की रचना के लिए भी कुछ प्रेरक प्रवृत्तियाँ थीं जिनमें मुख्य हैं —

(क) आश्रयदाताओं की अतिशयोक्ति पूर्ण प्रशंसा ।

(ख) युद्धों का जीवन्त चित्रण ।

(ग) वीर और श्रृंगार रस का समन्वय ।

(घ) कल्पना द्वारा चमत्कार प्रदर्शन ।

(ङ) भावोत्तेजना द्वारा वीरता का जागरण ।

(च) दरबारों में धाक जमाने का मोह ।

(छ) हिन्दुत्व की महिमा की प्रतिष्ठा ।

यह कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे प्रेरित होकर हिन्दी के आदिकालीन चारण कवियों ने अपनी रचनाओं को स्थापित किया है । मूलतः इस काव्य-धारा में सामन्तों के वैभव विलास और युद्ध जीवन का ही यथार्थ चित्र उपस्थित होता है । निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि छठी-सातवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक लिखे गए आदिकालीन काव्य की रचना धर्मिता को प्रेरित करने वाले प्रेरक तत्वों के सम्भूत प्रवृत्ति का स्वर दिव्य और लौकिक शिविरों में विभाजित है । [illegible] के अध्याय में अपभ्रंश भाषा में लिखे गए साधनात्मक काव्यों की प्रवृत्ति की पद्धति और प्रभेद का निरूपण किया जायेगा ।